सतयुग से कलियुग

बालकृष्ण गोयन्का

सतयुग से कलियुग

बालकृष्ण गोयन्का

प्रकाशक

फुड फैट्स एण्ड फर्टिलाइजर्स

फाउन्टेन प्लाजा, मॉन्टिएथ रोड

एग्मोर, चेन्नै - 600 008

चतुर्युग समीक्षा

सतयुग से कलियुग

प्रथम संस्करण : 2003

प्रकाशक :

फुड फैट्स एण्ड फर्टिलाइजर्स
फाउन्टेन प्लाजा, मॉन्टिएथ रोड
एग्मोर, चेन्नै - 600 008

मूल्य : 60 रुपए

मुद्रक :
प्रिंट एण्ड प्रिंट इन्डीया प्रेस
31/14, तिरुवीदीयन स्ट्रीट
गोपालपुरम, चेन्नै - 600 086
दुरभाष : 28112745
सेल : 98402 52595

CHATURYUG SAMIKSHA - SATYUG SE KALIYUG

by

Balkrishna Goenka

प्राक्कथन

भक्ति साहित्य एक ऐसा साहित्य रहा है जिसने हमारे देश की सामान्य जनता का चरित्र गढ़ने में महत्वपूर्ण भूमिका नेभाई है। भक्ति साहित्य में वर्णित आदर्शों और जीवन यापन के सुखमय राहों को आम जन ने बड़ी गंभीरता से अपनाया। फलतः हमारे देश का चारित्रिक स्तर बिश्व मे सबसे ऊँचा रहा। किन्तु भक्ति साहित्य में कुछ ऐसी विसंगतियाँ भी जाने अनज़ाने आती गयीं जो कहीं से भी भक्ति साहित्य के उच्च आदर्शों से मेल नहीं खाती । एक ओर ये बातें आदर्श को पराकाष्ठा पर ले जाकर पुरुषोत्तम को भी भगवान बना दिया तो योगेश्वर को भी चमत्कारिक पुरुष। फलतः इन चमत्कारिक अलौकिक चरित्र को हम भगवान मानकर उनकी पूजा तो करने लगे किन्तु उनके 'पुरुषोत्तम' और 'योगीश्वर' या 'योगेश्वर' आदि गुणों को अपनाने में पिछड़ गए। उनके पथ पर चलने की परंपरा को अपनाने में हम यह सोचकर उदासीन होते चले गए 'कि अरे वे तो भगवान थे, उनकी लीला अपरंपार है, हम अधम मानव भला उनके पद चिन्हों पर कैसे चल सकते हैं। ' ऐसी बातों ने हमारे लिए 'संभव' को की 'अंसंभव' में बदल दिया और मनुष्य का एक बड़ा वर्ग हीन भावना का शिकार भी कुछ हद तक हो गया। इन बातों के कारण हो सकता है भक्ति की धारणा भले ही पुष्ट से पुष्टतर होती गयी हो किन्तु युवा पीढ़ी के मन में जो उन आदर्शो पर चलने की ललक पैदा होती, उसमें कहीं कमी आती गयी। वर्त्तमान में हमारे सामने ऐसे प्रसंग भी आ रहे हैं, जब युवा पीढ़ी भगवान द्वारा

किये ऐसी चमत्कारों से प्रभावित भी नहीं होती बल्कि वह इसे अविश्वसनीय भी मानती है। दूसरी ओर भगवान के गुणों का अनुसरण भी नहीं क़र पाती-कहाँ भला भगवान और कहाँ तुच्छ मानव।

किन्तु यदि युवा पीढ़ी को यह लगने लगे कि तथा-कथित भगवान कहे जाने वाले चरित्र भी मानवीय चरित्र थे। हमारे समाज और देश के आदर्श पुरुष थे, जिनके पद चिन्हों पर चला भी जा सकता है और चलकर अपनी और समाज की भलाई भी की जा सकती है । जहाँ तक इन चरित्रों में चमत्कार पैदा करने की कोशिश का प्रसंग है तो उसे वैज्ञानिक एवं सामाजिक धरातल पर व्याख्यायित कर उसे नया आयाम दिया जा सकता है।

भक्ति साहित्य जो हमारे राष्ट्र की धरोहर हैं और जिनमें बहुत हद तक हमारे सामाजिक विकास का इतिहास भी छुपा है, को उपरोक्त उद्देश्य के आधार पर नया आयाम देने का प्रभावशाली प्रयास श्री बालकृष्ण जी गोयन्का ने इस पुस्तक में किया है जो सराहनीय है। श्री बालकृष्ण गोयन्का भक्ति साहित्य के अच्छे अध्येता रहे हैं और भक्ति साहित्य के विभिन्न प्रसंगों की मौलिक तार्किक एवं समयानुकूल व्याख्या कर इन्होंने भक्ति साहित्य को देखने जानने की नयी दृष्टि दी है। 85 वर्ष की उम्र में भी अध्ययन-लेखन में सक्रिय इस प्रखर साहित्यकार पर चेन्नै और देश के साहित्यकारों को गर्व है। महत्वपूर्ण बात यह हैं कि इन्होंने

भक्ति साहित्य के आदर्शों को अपने जीवन में भी उतारा है खोखली नारे बाजी भर नहीं की है। बैभवपूर्ण जीवन, विस्तृत व्यावसायिक परिवार का नेतृत्व और फिर देश भर में फैले विभिन्न सामाजिक-शैक्षणिक संगठनों में दयित्वपूर्ण पद-इन सब के बावजूद श्री बालकृष्ण गोयन्का गृहस्थ जीवन के महत्वपूर्ण सन्यासी हैं। मानवीय कमजोरियों से उपर उठने में सदैव रत रहे हैं । इन्हीं सब कारणों से श्री गोयन्का को चाहने वालों की संख्या आज लाखों में है। सरल मना, सौम्य एवं मृदुभाषी श्री बालकृष्ण गोयन्का जी से मुझे और मुझ जैसे बहुत से युवा रचनाकारों को प्रेरणा मिलती रही है। इनकी तीक्षण बुद्धि और अदभुत स्मरण शक्ति का मैं कायल रहा हूँ । यह मेरा सौभाग्य रहा है कि मैं श्री गोयन्का जी का कृपा पात्र रहा हूँ और इनके साहित्यिक यज्ञ का एक अकिंचन पात्र रहा हूँ। इसलिए जब इस पुस्तक के प्रकाशन की बात चली तो मैं सहर्ष इसमें अपना योगदान करने हेतु सहमत हो गया।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री बालकृष्ण गोयन्का ने चारों युग की व्याख्या / समीक्षा नये चिंतन-मनन के साथ किया है। इन्होंने भक्ति साहित्य की बहुत सी विसंगतियों पर सार्थक टिप्पणी की है एवं चमत्कारिक और अतार्किक बातों की तार्किक व्याख्या की है, जिसे पढ़कर पाठक निश्चित ही लाभान्वित होंगे।

इन्होंने कलियुग के धनात्मक पक्ष को लिया है और कहा है कि कलियुग उतना बुरा नहीं है जितना कहा जाता है और अगर कहीं-कहीं बुरा है तो इससे भी कहीं अधिक बुराई अन्य

युगों में भी व्याप्त रही है। अतः कलियुग की मात्र बुराई कर इसे खारिज कर देने से कलियुग का महत्वपूर्ण और प्रेरणादायक पक्ष अंधकार में चला जाएगा। श्री गोयन्का ने चारों युग के महत्वपूर्ण चरित्रों और महत्वपूर्ण प्रसंगों पर प्रकाश डालते हुए कलियुग में जन्में महान मानवतावादीं आदर्श पुरुषों का भरपूर उल्लेख किया है।

पुस्तक की बहुत-सी सामग्री पहलीबार पाठकों को पढ़ने को मिलेगी। महान चरित्र नायकों के बारे में श्री गोयन्का ने विस्तार से लिखा है। यह पुस्तक हर वर्ग के पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। आशा है बड़ा पाठक वर्ग इस पुस्तक की ओर आकृष्ट होगा और इसमें दिए गए संदेशों से मानसिक सन्तुष्टि प्राप्त करेगा।

श्री बालकृष्ण जी गोयन्का के शतायु होने की कामना सहित इस कृति 'चतुर्युग समीक्षा - सतयुग से कलियुग' के प्रकाशन पर हार्दिक बधाई।

- ईश्वर करुण

महासचिव, तमिलनाडु हिन्दी अकादमी

30/12, पी.ए.कोईल स्ट्रीट, वडपलनी, चेन्नै - 600 026

चतुर्युग समीक्षा-सतयुग से कलियुग

विषय सूची

सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग बनाम कलियुग

महात्मा, महन्त, विद्वान संत, पंडे-पुजारी सभी का यही कहना है, 'ज़माना बदल गया, कलयुग आ गया, घोर कलयुग आ गया । लोगों में धर्म आचरण नही रहा, शील सदाचार का जीवन जीने वाले बहुत थोड़े लोग हैं। जो देश ऋषिमुनियों का देश कहलाता था, राजा महाराजा भी घनघोर तपस्या करते थे, अब कहाँ हैं वे ऋषि मुनि? कहाँ है उनकी तपोभूमि? कहाँ हैं वैसे राजा-महाराजा? अब तो तपस्या की जगह काम वासना प्रधान हो गयी है । वैश्य भी धनोपार्जन को ही अपना लक्ष्य बना कर, लक्ष्मी के दास बन गये', आदि आदि।

आइए, हम विचार करें क्या कोई ज़माना ऐसा था, जहाँ मनुष्य की हैवानियत, राक्षस वृत्ति बनकर न उभरी हो? सतयुग की कथाओं में देव और दानव का युद्ध होता ही रहता था । उस युग में तारकासुर, मयासुर, वृत्रासुर, त्रिपुरासुर, वक्रासुर, कमलासुर, मोहासुर अपने आपको भगवान मानता था, असुर प्रचण्ड कापालिक एवं उनकी शिष्या शशिप्रभा, जिसका वध श्री गणेश जी ने किया था, हिरण्याक्ष, हिरण्यकश्यप आदि थे और

त्रेता में रावण-कुम्भकर्ण । इस तरह 'द्वापर युग' में जरासंध, शिशुपाल, वाणासुर, ययाति आदि दुराचारी, अत्याचारी एवं धर्म विरोधी राजा थे, जिन्हें श्रीकृष्ण ने एक-एक करके संहार किया या भीम या अर्जुन द्वारा संहार करवाया। अनेकों राक्षस-दानव हुए, जिन्होंने पृथ्वी पर घोर अत्याचार किया। ऋषि मुनियों की तपस्या, उनके यज्ञ भंग किये, अनेकों बार देवलोक पर हमला करके विजय प्राप्त की। इन्द्रलोक पर अधिकार करके राज्य किया । द्वापर युग में - महाभारत में भाई-भाई की लड़ाई में 20 लाखं से अधिक लोगों की आहुति हुई । कहते हैं, त्रेतायुग में श्री परसुराम ने 21 बार पृथ्वी से क्षत्रियों का समूल नाश किया ।

मानव जैसा पहले था, वैसा ही आज है, हर युग में अच्छे लोग भी रहे, बुरे लोग भी रहे। ऐसा ही आज है और आगे भी होगा । आज भारत में एवं सारे विश्व में अनेको ध्यान आश्रम है और उस तपोभूमि में भगवान गौतम बुद्ध की बतायी ध्यान विधि की तपस्या निरंतर चलती रहती है । इसके साथ श्री प्रभात रंजन सरकार द्वारा सिखाई ध्यान तपस्या एवं महेश योगी की ध्यान साधना भारत एवं विश्व में बहुत लोग बड़ी श्रद्धा लगन से नित्य करते हैं ।

एक युग था जब भारतवर्ष-विश्व में, एक बहुत ही उन्नतशील विश्व विख्यात देश था । हर क्षेत्र में, यानी विद्या, धर्म-संस्कृति, धन-वैभव में उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा हुआ था । यहाँ विश्व विख्यात तीन विश्वविद्यालय थे, नालन्दा विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालय और उज्जैन विश्वविद्यालय (विक्रम शिला विश्वविद्यालय)। नालन्दा में दस हजार छात्राओं के पठन-पाठन, उनके निवास, भोजनालय का समुचित प्रबन्ध था, जिसमें हर विषय की शिक्षा दी जाती थी । इसी

तरह तक्षशिला एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालय में भी 5000 से 7000 छात्रों का निवास और ऊँची से ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध था । भारत निवासी छात्रों के साथ-साथ, विदेशों के भी छात्र यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते थे । यात्रा भ्रमण के लिए भी यहाँ पड़ोसी देशों से बहुत यात्री आते थे ।

भगवान गौतम बुद्ध की वाणी, उनकी शिक्षा, ध्यान साधना विधि ने पड़ोसी देश के लोगों को बहुत प्रभावित किया । विशेष करके जापान, श्रीलंका, कम्बोडिया, थाईलैण्ड (स्याम देश), चीन, बर्मा (वर्तमान में म्यामार), भूटान एवं नेपाल, जहाँ आज भी भगवान गौतम बुद्ध को अपने ईष्टदेव के रूप में बहुत आस्था से वहाँ के नागारिक शीश झुकाते है । इन सभी देशों में विशेष करके ब्रह्मदेश, थाइलैण्ड, कम्बोडिया एवं ताइवान में उनके अनेक विशाल मंदिर व पगोड़ा हैं । उन मंदिरों में गौतम बुद्ध की बहुत ही सुन्दर, चित्ताकर्षक सजीव-सी लगने वाली मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं । मूर्तियाँ कहीं पत्थर की, कहीं संगमरमर की, कहीं पीतल की तो कहीं स्वर्ण मंडित हैं । ब्रह्मदेश (म्यानमार) में तो छोटे से छोटे गाँव में भी भगवान बुद्ध का एक मंदिर (पगोड़ा) अवश्य है । ऐसे ही थाइलैण्ड, कम्बोडिया, ताइवान, जापान आदि देशों में भी बहुत विशाल और बहुत ही आकर्षक पगोड़ा में भगवान गौतम बुद्ध की स्वर्ण, पन्ने, माणिक आदि की बनी मूर्तियाँ दर्शनीय हैं । वहाँ के निवासियों में भारतवर्ष के एक महान पुरूष गौतम बुद्ध के प्रति श्रद्धा भक्ति देखकर कोई भी भारतवासी भाव विभोर हो जाता है । आज विश्व के 265 करोड़ से अधिक लोग बुद्ध के श्रद्धालु अनुयायी हैं ।

भारत में अनेको मतावलंबियों के अपने-अपने ईष्टदेव और उनके अलग-अलग मंदिर है । परन्तु इन दक्षिणपूर्वी एशियायी देशों में केवल हमारे महान पुरूष गौतम बुद्ध को ही अपना ईष्टदेव मानकर, अत्यंत श्रद्धा और भक्तिभाव से नमन किया जाता हैं, उनकी धर्मवाणी उपदेशों का अपनी-अपनी भाषा में वे पाठ भी करते हैं ।

हमारे प्राचीन ग्रंथों में, पता नहीं वे कितने प्राचीन हैं, या वामयुग में लिखी मनगढ़ंत कथायें हैं - उन कथाओं के लिखने में मेरे हाथ काँपते है और उसे पढ़कर पाठक को भी लाभ नही होगा बल्कि काम वासना को बढ़ावा मिलेगा । फिर भी कोई खोजी पाठक इन कथाओं को जानना ही चाहे तो निम्न ग्रंथों को पढ़े ।

1.	रूद्र संहिता	- कुमार खण्ड पहले, दूसरे अध्याय में एवं तेईसवें, इकतीसवें एवं चालीसवें अध्याय में ।
2.	कोटि रूद्रसंहिता	- बारहवें अध्याय में ।
3.	उमा संहिता खंड	- चौथे अध्याय में
4.	शिव पुराण	- अनेक कथायें, इकतीसवें एवं चालीसवें अध्याय में ।
5.	अष्टम स्कन्ध	- द्वादश अध्याय में ।

देवताओं के देवता ब्रह्मा, विष्णु, शिव जिन्हें हम भगवान मानते हैं, उनके बारे में शिव पुराण में इस तरह की कथायें आती हैं । पता नहीं

देश के भक्तजनों को इसे पढ़कर उनके मन में, यह पुराण लिखने वाले के प्रति रोष क्यों नहीं उठता! शायद कोई पढ़ता ही नही होगा! सिर्फ श्रद्धाभाव से नमन करते हुए, इस पर पत्र-पुष्प चढ़ा देते होगें । अच्छा ही है, इन ग्रंथों को कोई नहीं पढ़े इसकी पूजा मात्र कर ले अन्यथा इन कथाओं से क्या प्रेरणा मिलेगी !?

पुराण कथा में एक कथा आती है, यम और यमी जुड़वाँ भाई-बहिन थे । उनमें परस्पर बड़ा प्रेम था । यमी अपने भाई से भोग वासना की मांग करती है। यम कहता है, तुम मेरी सहोदरा भगिनी हो और भगिनी अंगतव्या होती है, तुम्हें ऐसी कामना नही करनी चाहिए । यमी कहती है, तुम ऐसी बातें क्यों करते हो यम? भूतलवासी मनुष्यों के बीच भले ही ऐसा करना घोर दुष्कर्म माना जाता हो, लेकिन पर्वतवासी देव जाति में तो यह निषिद्ध नहीं है । इससे यह बोध होता है, मनुष्य जिसे दुष्कर्म मानते हैं, देवजाति में ऐसे दुष्कर्म करने की छूट थी । यह कैसे देव थे? यह कैसी देवयोनि थी? भारतवर्ष में एवं दक्षिणीपूर्वी एशियायी देशों में जहाँ भगवान गौतम बुद्ध के अनुयायी मानते हैं कि मनुष्य अपने इस जन्म में शील सदाचार का जीवन जीता है, अनेक पारमितायें पूरी करता है, इसी तरह पूर्व जन्मों में भी शुभ कार्य, धर्म का जीवन जिया हो तभी उसे अगला जन्म देवयोनि में मिलता है ।

पुराणों में जो बातें लिखी है, अगर वह सत्य है तो उस सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग से आज का 'कलियुग' कहीं बेहतर है । परन्तु लगता है, वामयुग में यह पण्डितों के द्वारा लिखी गई मनगढ़ंत, कल्पनिक व्याख्या है।

सतयुग में हिरण्यकश्यप और हिरण्याक्ष का संहार करने के लिए वे आये। त्रेता में भगवान रामचन्द्र के रूप में आये । द्वापर में कंस आदि दुष्टों का दमन करने श्री कृष्ण के रूप में आये । परन्तु कलयुग में तो ऐसे दुष्टों का, अब तक तो जन्म नही हुआ कि उनका दमन करने के लिए भगवान को जन्म लेना पड़ा हो । वैसे इसी युग में गौतम बुद्ध जैसे विश्व विख्यात, भारत की महान विभूति, महान योगी, जिन्होंने कठिन तपस्या की और मुक्त हुये और बौद्धि प्राप्त की । बाद में करूणाचित से यह विद्या को, जिससे जो भी उनके बताये विधि से करे और जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो सके, 45 वर्षों तक हर गाँव और नगरों में पैदल यात्रा करते हुए बाँटते रहे ।

भगवान महावीर भी राजसुख त्यागकर वन में जाकर तपस्या करके मुक्त हुए और सारी उम्र लोगों में अहिंसा, करुणा का सन्देश बाँटते रहे । ऐसे अनेक तपस्वी हुए - श्री अरविन्दजी, श्री रमण महर्षि, गुरु मक्षेन्द्रनाथ, गुरु गोरखनाथ, श्री प्रभात रंजन सरकार, ऊबाखिनजी। श्री सत्य नारायण गोयन्का जिन्होने भारत को फिर से जगत गुरू का गौरव दिलाया, सारे संसार में विपश्यना, ध्यान, साधना तपस्या के झण्डे गाड़े । श्री महेश योगी, श्री कृष्णमूर्ति, श्री आनन्दमयी माँ, रामकृष्ण परमहंस, उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द, आदि शंकराचार्य, स्वामी रामतीर्थ, दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्द घोष, (पोण्डिचेरी), संत कोलानन्द कैबल्यधाम, महाप्रज्ञ नथमल मुनि, ईश्वर भक्ति के प्रमुख भक्त वेदान्त स्वामी प्रभुपाद, गुरुनानक, संत कबीर, संत तुलसीदास, संत दादू राजनीति

और धर्मनीति के पंडित महात्मा गांधी, जिन्होने बिना हथियार उठाये अहिंसा और संगठन के बल पर भारत को आजाद कराया । विदेशों में ईसा मसीह, मोहम्मद साहब, भारत के भक्ति मार्ग के महान विद्वान संत एवं तपस्वी श्री वल्लभाचार्य, संत रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, राजस्थान की मीरा, ध्यान तपस्या के महान आचार्य अलार कलाम जो सातों ध्यान के आचार्य थे, श्री उद्दक रामपूत जो आठवें ध्यान के आचार्य थे, जिनसे गौतम बुद्ध ने सात ध्यान फिर आठवाँ ध्यान सीखा, अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की। इसके साथ-साथ अन्य महान विभूतियाँ जैसे स्वामी विवेकानन्द जिन्होने भारतीय संस्कृति को विदेशों में बिखेर करके अमेरिका में खूब प्रचार किया । इसी तरह चैतन्य महाप्रभु, योगाचार्य श्री पतंजलि, आचार्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महर्षि अरविन्द और उनकी शिष्या श्रीमती माँ (पांडिचरी), एनी बेसेन्ट, संत सुकरात, संत श्री चिनमयानन्द, प्रेरक व्यक्तित्व के धनी संत कबीर, संत रज्जव, धुन के धनी पथ प्रदर्शक चाणक्य, चीन के कन्फयूशियस, यूनान के जरथुस्त्र। इनमें से कुछ महापुरुषों की जीवन कथा ही इस पुस्तक में लिख पाया हूँ ।

मनुस्मृति में एक जगह लिखा है :

यथार्थ पशव : सृष्टा : स्वयमेव स्वयंमुवा ।
यज्ञस्य मूत्यै सर्वस्वं तस्याद्यज्ञे वद्योडवध : ॥ 5 ।39

अर्थात ब्रहमा ने स्वयं ही यज्ञ की सिद्धि के लिए, पशुओ की सृष्टि की है । अत : यज्ञ में पशुवध को वध नहीं माना जाता । क्या यह मनु का श्लोक है ? अगर ऐसा मनु का कहना है तो फिर बकरीद पर गाय, बकरा आदि मार कर खाने वाले मुसलमानों में और हममें क्या अंतर रह

गया? क्या इसी का नाम धर्म है ? यज्ञ में हिंसा के लिए भगवान गौतम बुद्ध ने बहुत विरोध किया, उन यज्ञ करने वालों को समझाया, तब धीरे-धीरे यज्ञ की हिंसा बंद हुई । मनु का एक और श्लोक है ।

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृति रेषा भूतानां निवृतिस्तु महाफला ।। मनु 5 । 109

अर्थात मांस पकाना, मद्यपान और परस्त्री से मैथुन में कोई दोष नहीं है क्यांकि यह तो प्राणियों की प्रवृति होती है । मनु ने यह लिखा था उनके नाम से किसी ने लिखा - इस तरह के विचार के पौराणिक पन्थी पुरोहित, पन्डे, भला शिव पुराण जैसे ग्रंथो में लिखी भगवान शिव, ब्रहमा, विष्णु और ऋषि मुनियों आदि के काम वासना की कथाओं पर शंका समाधान कैसे करते? उन पुराणों की पूजा ही करते आ रहे हैं कि "बाबा वाक्य प्रमाणम" । यह सही है, हमारे पूर्वजो ने वेदों, उपनिषदों, प्राचीन पुराणों को कण्ठस्थ करके, ऋषियों की अनमोल धरोहर की रक्षा करके, पावन व अनुपम कार्य किया था । उनके त्याग व बलिदान की प्रशंसा करते हैं, उनके प्रति कृतज्ञ है । जो २ वेद को कण्ठस्थ किया उनहें द्विवेदी, 3 वेद को कण्ठस्थ करने वाले को त्रिवेदी और चारों वेदों को कण्ठस्थ करने वाले को चतुर्वेदी कहा गया परन्तु आज तो बहुत से अनपढ और साधारण पढे-लिखे भी द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी कहलाते हैं । आज कलियुग की भर्त्सना की जाती है, परन्तु उपर लिखे महान पुरूषों के बारे में जो नक्शा सामने आया है वह कलियुग के तो नहीं है। त्रेता में भी पर स्त्री हरण करने वाले रावण-बाली रहे हैं, द्वापर में परिवार के सभी बुजुर्गो के सामने ही कुलवधू को नग्न करने का प्रयास किया गया

था । पुराणों के कथन के अनुसार भगवान को तो सृष्टि रचना, पालन, संहार व कर्मफल प्रदान करने से ही फुर्सत नहीं है । भगवान तो जब मुहम्मदी तलवार सिर पर घूमती थी, मन्दिरों व मूर्तियों को ध्वस्त किया जाता था, हिन्दुओं पर अमानवीय अत्याचार ढाये जाते थे, तब भी नहीं आये थे ।

सतयुग और त्रेतायुग की कथाओं से यह भान होता है कि उस युग में काम वासना पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था इसका कोई विरोध नहीं करते थे, मांस भक्षण पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं था, यज्ञ में तो पशुओं की बलि दी ही जाती थी अश्वमेधयज्ञ गौमेधयज्ञ के साथ-साथ कई बार नर-मेध की भी कथा पढ़ने में आती है । राजा हरिश्चन्द्र के सौ रानियाँ थी, परन्तु किसी को कोई संतान नहीं हुई, राजा इससे दुखित था ।

राजा हरिश्चन्द्र को ऋषियों ने पुत्र प्राप्ति के लिए नरमेध यज्ञ करने को कहा । उनको एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम रोहित रखा गया । यज्ञ के पूर्णाहुति के समय अर्जीगत का पुत्र शुनः शेप का वध करने के लिए उसे यज्ञ के खम्भे के साथ बाँधा गया । ....

उस युग में राजा महाराजा, महर्षियों के एक से अधिक पत्नी होती थी । वे पत्नी अपने कुल की याने क्षत्रिय कुल की ही होनी आवश्यक नहीं थी।

ययाति के देवयानी के अलावा शर्भिष्ठा रानी भी थी जो क्षत्रिय नहीं थी ।

अर्जुन की द्रौपदी, सुभद्रा के साथ-साथ हिडिम्बा भी पत्नी थी जो असुर जाति की थी ।

च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या ब्राह्माण कुल की नहीं थी ।

महर्षि कश्यप जो शायद ब्राह्मण ही थे, का सम्राट दक्ष की १३ पुत्रियों के साथ विवाह हुआ । श्री कृष्ण ने जामवंती से विवाह किया जो गैर जाति की थी ।

आज के युग को तो हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं । आज से 2500-3000 वर्ष का भी इतिहास हमें सुलभ है जिसमें उस समय के राजा महाराजा ऋषिमुनि वैश्य और महान पुरुषों के बारे में भोजपत्र, ताम्रपत्र, शिला लेख एवं उस समय के महापुरुषों की वाणी को उनके बताये मार्ग को, गुरू शिष्य परम्परा से रटते रटाते आज तक जीवित रखा गया है बाद में लिखने के साधन जुटने के बाद पुस्तकें लिखी गई उससे हमें उन महान पुरूषों के बारे में उनके द्वारा बताये गए धर्म के मार्ग की जानकारी होती है । परन्तु पुरातन काल जिसे हम सतयुग, त्रेता एवं द्वापर युग कहते हैं, उसकी जानकारी तो हमें पुराणों में लिखी कथा से ही मिलती है ।

महन्त, विद्वान, पंडित, पण्डे-पुजारी यही कहते हैं और कहते आ रहे हैं कि पुराण वेद की तरह अनादि हैं । पुराणों के बिना तो वेद के कठिन मंत्रों का अर्थ ही नहीं होता । एक तरफ पुराणों को वेदों की तरह अनादि बताते हैं दूसरी तरफ यह मान्यता चली आ रहीं है कि पुराणों के रचयिता महामुनि वेद व्यासजी हैं । इनके अनुसार सत्यवती के बेटे वेद व्यासजी द्वारा लगभग 5000 वर्ष पूर्व ही पुराणों की रचना हुई है । कुछ भी हो सारे पुराण, चाहे वेद व्यासजी द्वारा लिखे गये हों या कुछ पुराण बाद में विद्वान ब्राह्मणों द्वारा लिखे गये हों, परन्तु हमें सतयुग, द्वापर और

त्रेता युग के महान पुरुषों, महान ऋषि - मुनियों की जीवन गाथाएँ पुराणो से ही मिलती हैं । कहीं -कहीं कुछ कथाएं वेदों में भी आ जाती हैं ।

देश के महान विद्वानों द्वारा प्राचीन पुराणों के अध्ययन, उनकी समीक्षा पर लिखी पुस्तकें और लेख द्वारा यह मेरी समझ में आया है कि हर युग में महान पुरुष भी हुए हैं, साथ-साथ दुष्ट पापी राजा एवं अत्याचारी मानव भी हुए हैं । मुझे तो ऐसा लगता है कि प्राचीन युग में काम-वासना, भोग लिप्सा, आज के युग से कम नहीं थी ।

श्रीमद भागवत पुराण कथा में जिसको हम इतिहास मानते हैं, बहुत सी घटनाएँ ऐसी चमत्कारी है कि कोई भी उस पर चिन्तन-मनन करे तो ऐसा लगता है कि वह प्रकृति के विरुद्ध है, और वे ज्ञान की कसौटी पर खरी नही उतरती हैं ।

1. अयोध्या के सगर राजा जिनके दो रानियाँ थी, उसमें एक रानी सुमति के साठ हजार पुत्र थे ।
2. महाभारत में महारानी गांधारी के 100 पुत्र थे ।
3. रावण के 10 सिर थे ।
4. मान्धाता सम्राट के 50 कन्याएँ थीं ।
5. ब्रह्मदत्त और कुश नाम के ब्राह्मण के 100 कन्याएँ थी ।
6. रावण ने कैलाश पर्वत को उठा लिया था ।
7. श्री कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाकर गोपालकों की रक्षा की थी।
8. हनुमान हिमालय पर संजीवन बूटी की पहचान नहीं कर पाने पर पहाड़ ही उठाकर ले आये ।

कोई भी पर्वत यानी पहाड़ हो, वह तो पृथ्वी का ही भाग है, जो भाग समतल से बहुत ऊँचा हो गया उसे पहाड़ कहते हैं, जो नीचा गहरा हो उसमें स्वाभाविक है वर्षा का जल भर जायेगा, वह भाग तालाब या समुद्र बन गया। गहरे और ढलुवा भाग में पानी भर कर नदी का रूप ले लेती है । ऊँचे उठे भाग को जिसे पहाड़ कहते हैं, कोई भी कैसे उठा सकता है? उसे उठाने के लिए कोई मशीन आज तक नहीं बनीं, उसको समतल भाग से काटे और फिर उसको उठावे, सह सर्वथा असम्भव है।

श्रीमद् भागवत पुराण के अनुसार भगवान श्री कृष्ण की 5 पटरानियों के अलावा 16,800 रानियाँ थी, यह बात समझ के बाहर की बात है । इस तरह की चमत्कार की बातें जोड़ दी गई । इससे आज के वैज्ञानिक युग में युवा वर्ग इसे काव्यमय उपन्यास मान लेते हैं, और इसे भारत का प्राचीन इतिहास मानने को तैयार नहीं होते ।

हमारे देश में तपस्या की भी एक परम्परा रही है । अपने कुछ मनोरथ पूर्ण करने के लिए किसी भी एक देव को ईष्टदेव मान कर उनके रूप की या उनके नाम को मंत्र रूप देकर, ध्यान तपस्या करते रहे, उनकी कठोर तपस्या से प्रभावित होकर उनके ईष्टदेव चाहे वे विष्णु ब्रह्मा या शिव हों, अपने भक्त के सामने प्रकट होते हैं और उस तपस्वी को वरदान मांगने को कहते हैं। वह भक्त ऐसा वर मांगता है जिससे उसकी मृत्यु नहीं हो या कोई अलौकिक शस्त्र माँगता है या अपने को परम शक्तिशाली होने का वरदान मांगता है, भगवान उसे "तथास्तु" कह कर उसकी इच्छा पूरी कर देते हैं । अब वह भक्त अपरमित शक्ति प्राप्त करके सारे देश में अत्याचार शुरू कर देता है । ऐसे वरदान पाने वाले हिरण्याक्ष,

हिरण्यकश्यप, रावण, जलन्धर, तारक, देवांतक, नरांतक, वृत्रासुर, कमलाक्ष, तढाकक्ष आदि कितने ही प्रसिद्ध असुरों का उल्लेख आता है। हम सभी मानते हैं, ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव भगवान हैं, त्रिकालज्ञ हैं तो उन्हें पूर्व ज्ञान होना चाहिए कि वे जिन्हें वरदान दे रहे हैं, वे उसका दुरूपयोग करके सारे भारत में आतंक मचा देगें । ऋषिमुनियों की तपस्या भंग करेगें ।

सतयुग की एक कथा है कि हिरण्याक्ष ने कठोर तपस्या करके कई ऋधि सिद्धि प्राप्त कर ली थी । वह अत्यन्त बलशाली था । वह एक बार पृथ्वी पर क्रोधित होकर, पृथ्वी को अपने में समेटकर समुद्र में डुबो दिया तब भगवान विष्णु ने पृथ्वी की रक्षा करने के लिए, वाराह अवतार लेकर यानि विशाल शूकर का रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार किया और दुष्ट हिरण्याक्ष का बध किया । इस कथा में सन्देह होता है, क्या कोई पृथ्वी पर रहते हुए, पृथ्वी को डुबो सकता है ? जब पृथ्वी डूब गयी तो हिरण्याक्ष कैसे बच गया, उसकी राजसत्ता, उसकी राजधानी कैसे बच गयी? समुद्र भी पृथ्वी का ही एक भाग है । पृथ्वी के आस-पास तो शून्य आकाश है, तब पृथ्वी को कौन से समुद्र में डुबो दिया । पुराण पढ़ने वाले क्या इस पर चिन्तन नहीं करते? इस कथा को कैसे सत्य मान लिया जाय?

महाराजा ही नहीं ऋषि-मुनि भी अछूते नहीं रहे । राजाओं के ही नहीं ऋषियों के भी दो-दो पत्नियाँ होती थीं । वैदिक ऋषि याज्ञवल्क्य, जिनका नाम और यश चारों तरफ छाया हुआ था, उनकी दो पत्नियाँ थी, मैत्रेयी और कात्यायिनी । महर्षि कश्यप के दो पत्नियाँ थी, एक का नाम

कद्रु और दूसरी का विनता था । श्रेष्ठ मुनि विश्वश्रवा की दो पत्नियाँ थीं, दूसरी पत्नी असुर जाति की थी, जिसके कोख से रावण का जन्म हुआ था । महाऋर्षि कश्यप का प्रजापति दक्ष की 13 कन्याओं के साथ विवाह हुआ था, जिसमें दिति - अदिति प्रमुख थीं। ऐसे अनेक ऋषि हुए, जिनके एक से अधिक पत्नियाँ थी । श्रीमद भागवत के रचियता तो वेद व्यास जी ही थे, परन्तु सारे पुराण उनके लिखे हुए हैं, यह बात जँचती नहीं है। ऐसा एक युग आया - वेद उपनिषद का स्थान पुराणों ने ले लिया, जिसमें कल्पित किस्से प्रक्षिप्त कर दिये गये । पुराणकारों द्वारा विष्णु ब्रह्मा, शिवशंकर के लिए भी भोगी, काम-वासना में लिप्त कथायें भर दी गयीं । शायद यह समझाने की कोशिश की गयी कि भोगवाद ही सर्वोत्तम मार्ग है । पुराणों में ज़ो चमत्कारी बातें, कुछ वर्णन आते हैं, जो बुद्धिसंगत नहीं लगते हैं, कहीं - 2 तो इतनी अश्लीलता, कामवासना, भोग लिप्सा का वर्णन मिलता है कि आश्चर्य होता है। इसका कोई विरोध क्यों नही हुआ? या फिर उस युग में कामवासना को लोग अनुचित नहीं मानते होगें। आज के कलियुग मे भी उन कथाओं को पढ़ सुनकर लोगों का सिर शर्म से झुक जाता है, मन में उसके प्रति ग्लानि होती है, यह कैसे ऋषि और महापुरूष हैं ? भागवत पुराण में एक जगह आता है कि इन पुराणों की रचना मन्द बुद्धि वाले लोगों के लिए हुई थी । जब लोग वेद, दर्शन, उपनिषद को पढ़ने, समझने में आलस्य मानने लगे तब पुराण ग्रंथों की रचना हुई । (महाभारत 1/10, 11) मुझे लगता है इन पुराणों की रचना मन्द बुद्धि वालों के लिए नही बल्कि मन्दबुद्धि वालों, धर्म में चमत्कार दिखाने वाले ऋषियों या ब्राह्मणों के द्वारा हुई है। जिनको हम प्राचीन युग

के भारत का इतिहास मानते है, उसमें लिखी कथाओं में अद्‌भुत बातें है, जो विश्वसनीय नहीं लगतीं। कहीं बताते हैं - पसीने से आदमी पैदा होना, मनुष्यं का पृथ्वी उठाना, सारे समुद्र को निगलना, सूर्य को निगलना आदि आदि । क्या यह बुद्धिपूर्ण तर्कसंगत बातें हैं ?

सतयुग में हमारे ग्रंथ मानते है, कि तब सतोगुणी विचारों के लोग थे, त्रेता और द्वापर युग में सतोगुणी के साथ-साथ रजोगुणी लोग भी थे। कलयुग मे तमोगुणी प्रधान लोगों का वास है । पंडित बसन्तलाल व्यास द्वारा सम्पादित श्री शिव महापुराण में रूद्र संहिता, सती खण्ड प्रथम अध्याय में ब्रह्माजी नारद से कहते हैं, 'हे नारद! पहले मेरे कन्या हुई, जिसे देखते ही मैं काम से पीड़ित हो गया', तीसरे अध्याय में ब्रह्मा ने कहा, 'एक क्षण मेरी भौहों के बीच से एक सन्ध्या नाम की कन्या उत्पन्न हुई। सन्ध्या में विकार उठने लगे और वह ऋषियों से कटाक्ष करने लगी। मरीचि, अत्रि और दक्ष आदि सब मुनि इन्द्रियों के विकारों को प्राप्त हो गये ।

मुझे लज्जित करते हुए शिवजी बोले - "हे ब्रह्मा! तुम्हे अपनी पुत्री को देखकर काम कैसे प्रकट हो गया?" इससे लज्जा के कारण ब्रह्मा के शरीर से पसीना छूट गया । उस पसीने से पितृगणों की उत्पत्ति हुई। सातवें अध्याय में लिखा है वह (अरून्धती) जब पांच वर्ष की हुई तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने आकर ब्रह्मा पुत्र वशिष्ट के साथ उसका विवाह कर दिया, पतिव्रताओं में श्रेष्ठ, अरून्धती वशिष्ठ को पाकर उनमें रमण करने लगी,।'जिसके कारण शतपादिक श्रेष्ठ पुत्रों की उत्पत्ति हुई । यह पढ़कर सन्देह होता है क्या चारों वेद के रचियता विद्वान ब्रह्मा जैसा श्रेष्ठ

व्यक्ति इतना गिर सकता है ? क्या पसीने से भी आदमी बनते हैं? पांच वर्ष की भोली अबोध लड़की का विवाह हुआ और वह लड़की भी काम व्यवहार कुशल हो कर रमण करती हो, यह जँचने वाली बात नहीं लगी।

उन्नीसवें अध्याय में लिखा है - शिव पार्वती के विवाह संस्कार के समय ब्रह्मा जी कहते हैं - 'शिव की माया ने देवताओं, मनुष्यों और राक्षसों सहित सारे विश्व को मोहित कर दिया । मैं भी मोहित हो गया। विवाह कराते समय दक्ष की पुत्री (मेरी पौत्री) पतिव्रता सती को देख कर मैं कामवश हो गया और उसका मुख देखने की इच्छा करने लगा । परन्तु पतिव्रता सती ने लज्जा से अपना मुंह ढ़क रखा था । तब मैं क़ामार्त मन के वश में होकर अग्नि कुण्ड में बहुत-सी गीली समिधा डालकर धुंआ कर दिया जिससे अन्धेरा हो गया । फिर सती के मुख से वस्त्र हटाकर मैंने उसका मुख देख लिया'।

पुराण में एक कथा आती है- समुद्र मंथन के समय क्षीरोदधि से बहुत - सी अप्सरायें उत्पन्न हुई थीं। जब देवता अमृत पान कर चुके, दैत्यों से उनका युद्ध हआ। पराजित दैत्य पाताल में प्रवेश करने लगे तो अपने साथ इन सभी अप्सराओं को भी लेते गये । भगवान विष्णु ने चक्र लेकर असुरों का पीछा किया उनके पीछे-पीछे वे भी पाताल में पहुँचे। दैत्यों ने देखा कि हरि से यहाँ भी छुटकारा पाया नहीं जा सकता तो उन्होने अप्सराओं को नारायण की सेवा में अर्पित कर दिया । विष्णु ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली । वे उन अप्सराओं के साथ पाताल में ही विश्राम करने लगे । उन अप्सराओं से उनके चार पुत्र हुए । वे अत्यन्त पराक्रमी थे। भगवान विष्णु जहाँ निवास करेंगे, वहाँ असुर या असुराभाव

हेतु भी कोई स्थान नहीं रहता। नारायण पाताल में निवास करने लगे तो असुर वहाँ से भू-लोक में आ गये। अब वे अवसर पाकर अमरावती भी पहुँच जाते और वहॉ उपद्रव करते थे। देवता अमृत पान करके भी नारायण से रहित होकर, असुरों को पराजित करने में समर्थ नहीं थे।

सबने ब्रह्मा जी की शरण ली। उनको लेकर ब्रह्माजी कैलाश पहुँचे। वहाँ सदाशिव से प्रार्थना की और कहा भगवान विष्णु क्षीरोदधि से उत्पन्न अप्सराओं के साथ पाताल में निवास करने लगें हैं। आप उन्हें वहाँ से बैकुण्ठ लावें। वे जब तक देवता के सहायक नहीं हो जाते, असुरों को मारने की विधि अशक्य है। शिव ने महावृषभ का रूप धारण किया। वे गर्जना करते हुए पाताल पहुँचे। विष्णु व अप्सराओं से उत्पन्न चारों पुत्र धनुष लेकर युद्ध करने उस महावृषभ के सम्मुख आये, किन्तु वृषभ ने अपने खुरों से और सींगों से उन पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। वे चारों भाई मारे गये। इसके बाद स्वयं विष्णु युद्ध करने बाहर आये। उन्होने उस वृषभ पर दिंव्य शस्त्रों का प्रहार किया। आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया, किन्तु वृषभ उन्हे निगल लेता था। ब्रह्मास्त्र तक को उसने निगल लिया। अपने सींग से विष्णु के वक्ष पर आघात किया। उस आघात से हरि मूर्क्षित होकर गिर पड़े। महावृषभ उनके समीप शांत खड़ा रहा। मूर्क्षा दूर हुई। उन्होंने देखा वृषभ स्नेहपूर्वक उनकी ओर देख रहा है। सहसा उनकी दृष्टि पड़ी और चौंके-शिव? "प्रभो महेश्वर! आप यहॉ इस रूप में?" भगवान शंकर अपने स्वरूप में प्रकट हो गये और कहा, आपका यहाँ रहना उचित नहीं है, यहाँ से अपने धाम चलें। पाताल में सभी के लिए प्रवेश सुगम नहीं है। असुर यहाँ निर्द्वन्द रहते हैं। विष्णु

भगवान वापिस अपने लोक में आ गये । देवताओं को उनका संरक्षण प्राप्त हो गया । पाताल में भी स्वर्ग की अप्सराओं से भी अति सुन्दर अप्सरायें हैं । यह समाचार पाकर देवता भी पाताल प्रवेश की इच्छा करने लगे । शिव ने उन्हे झिड़क कर कहा, "तुम सब काम पुरूष और भोगी हो । अमरावती के अमृत और अप्सराओं से भी तुम्हें तुष्टि नहीं होती है।"

इस पौराणिक कथा से जनमानस को क्या प्रेरणा मिलती है - भगवान विष्णु, देवतागण और मानव में क्या भेद रहा - क्या विष्णु भी, जिन्हें हम ईश्वर मानते हैं, क्या वासना में इतने लिप्त हो सकते है कि अपने कर्तव्य को भी भूल जाएँ, वहभी इतने लम्बे समय तक कि उनके चार पुत्र होकर जवान हो जाते हैं और महावृषभ रूपी शिव से पिता आज्ञा पर युद्ध करते हैं । भगवान शिव एवं ब्रह्मा स्वयं ही पाताल लोक जाकर भी विष्णु को सचेत कर सकते थे । क्यों शिव को महावृषभ का रूप धारण करके युद्ध करना पड़ा? विष्णु को मूर्छित करके ही उन्हें "कर्तव्य का बोध कराया जा सका? पाताल लोक की अति सुन्दर अप्सराओं की बात सुनकर देवगण स्वर्ग छोड़कर पाताल लोक जाकर उनसे रमण करने को लालायित हो गये । अगर यह कथा सत्य है तो देव और मानव में क्या अन्तर रहा । पौराणिक कथाओं में वर्णित पाताल लोक या तो आज का दक्षिण अमेरिका होगा । जहाँ भारतीय सम्यता के चिन्ह बहुत मिलते हैं, वहां के रहने वाले आदिवासियों का रहन-सहन-संस्कार भारतवासियों से कुछ-कुछ मिलते हैं। या फिर विन्ध्याचल पर्वत के नीचे भारत के दक्षिण भाग को पाताल लोक कहा जाता होगा ।

दक्षिण भारत के केरल प्रदेश में श्री अय्यप्पा को वहाँ के निवासी श्री गणेश और कार्तिकेय के सौतेले भाई के रूप में मानते हैं, और उनकी बड़ी निष्ठा से पूजा अर्चना की जाती है। केरल, तमिलनाडु एवं अन्य प्रान्त के उनके भक्तगण कठिन पहाड़ों की चढ़ाई करके उनके दर्शनों के लिए आते हैं। वहॉ के धर्मगुरू, पण्डे-पुजारियों की यह मान्यता है कि अय्यप्पा का जन्म विष्णु मोहनी और योगेश्वर शिवशंकर के संयोग से हुआ था। जन्म के बाद माता उन्हें पम्पा नदी के तट पर रखकर अर्न्तध्यान हो गयी थीं। पम्पापुर की तत्कालीन रानी ने उनका पालन-पोषण किया था। उन्होंने ही बालक अय्यप्पा की शिक्षा-दीक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध किया था। केरल प्रदेश के दक्षिण तटीय भाग में शबरी पहाड़ी है, जिसे वहाँ के लोग शबरी मलै के नाम से मानते हैं। यह स्थान तीर्थस्थल है। हजारों भक्त उनके दर्शन पूजन के लिए वहॉ पहुँचते हैं। जैसा इस युग का मानव है, वैसे ही अपने इष्टदेव योगेश्वर शिवशंकर के नाम से कथा कहानी गढ़ ली है। अब यह एक तीर्थस्थान बन गया है।

नवरात्र में माँ दुर्गा के भक्तजन, मॉ शक्ति की उपासना पूजाव्रत, उपवास रखते है। हर दिन मॉ शक्ति के विभिन्न रूप की पूजा उपासना करते है। मॉ शक्ति की सवारी सिंह की है परन्तु सातवें दिन इस देवी की "कालरात्रि" स्वरूप की पूजा अर्चना की जाती है। इनके रूप-स्वरूप का वर्णन पुराणों में इस प्रकार दिया गया है।

देवी के शरीर का रंग अन्धकार की तरह, गहरा काला बताया गया है। उनके सिर के केश बिखरे हुए हैं। उनके गले में विद्युत सदृश चमकीली माला है। इनके तीन नेत्र है, जो पृथ्वी की तरह गोल हैं। इन तीनों नेत्रों से विद्युत की ज्योति चमकती रहती है। नासिका से श्वास-

प्रश्वास छोड़ने पर हजारों अग्नि की ज्वालायें निकलती रहती हैं। वे गदहे की सवारी करती है। ऊपर उठे हुए दाहिने हाथ में चमकती तलवार है, बांये हाथ में जलती हुई मशाल है। उनके नीचे वाले बायें हाथ अभय मुद्रा में है, दूसरे दाहिने हाथ में नर मुण्ड है। पता नहीं माँ शक्ति का यह रूप दिखाने का क्या तात्पर्य है।

त्रेता युग में राम कथा आती है, जहाँ भगवान रामचन्द्रजी शील सदाचार का जीवन जीने वाले महान पुरूष थें, इसलिए राम को मर्यादा पुरूषोत्तम कहते हैं याने पुरूषों में सर्वोत्तम। उसी युग में पर स्त्री का हरण करने वाले रावण, अपने अनुज भ्रात की पत्नी को जबरदस्ती अपनी रानी बनाने वाले सम्राट बालि थे, सम्राट दशरथ दो पत्नियों के होतें हुए भी प्रौढ़ अवस्था में भी युवती कैकेयी से विवाह करते हैं और उनके लावण्य एवं यौवन पर मुग्ध होकर उसके इशारे पर चलते हैं। राम जैसे सेवाभावी, आज्ञाकारी पुत्र को बिना कोई कारण के चौदह वर्ष वनवास देते हैं। इसी समय महापुरुष श्री परशुरामजी हए। वे वेद शास्त्रों के ज्ञाता, वेद सूक्तों के रचयिता, साथ-साथ महापराक्रमी प्रचण्ड योद्धा और दिव्य शस्त्रों मे भी दक्ष थे।

वे जन्म से ब्राह्मण ऋषिपुत्र थे, परन्तु कर्म से ब्राह्मण भी थे, परन्तु अधिक क्षत्रिय थे। त्रेतायुग, सतयुग में शस्त्र उठाना एकमात्र क्षत्रियों का ही कर्तव्य था। परन्तु कहते हैं परशुराम ने आततायी और अत्याचारी क्षत्रिय राजाओं को सारे भारत से 21 बार नष्ट कर दिया था। 21 बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन कर दिया था तो पता नही परशुरामजी की कितनी लम्बी उम्र थी। लगता है, इसमें कुछ अतिशयोक्ति है। महाराज कुशिक

के पुत्र महाराजा गाधि की एक मात्र संतान, सत्यवती नाम की कन्या थी। सत्यवती के रूप गुण से प्रभावित होकर ऋषि ऋचिक, महाराज गाधि से एक हजार श्याम कर्ण श्वेत अश्व देने पर ही सत्यवती का विवाह करने की शर्त रखी। ऋषि कठोर तपस्वी थे । अपनी तपस्या के बल पर 1000 अश्व प्राप्त करके, महाराज गाधि को प्रदान किये और उनका विवाह सत्यवती से सम्पन्न हुआ । एक बार महर्षि भृगु अपने प्रपौत्र ऋषि ऋचिक से मिलने उनके आश्रम पहुँचे । जहाँ उनकी अनुपस्थिति में सत्यवती ने उनका अत्यन्त आदर भाव से सेवा सत्कार किया, जिससे अत्यन्त प्रसन्न होकर महर्षि भृगु ने सत्यवती को पुत्रवती होने का आर्शीवाद दिया कि तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण-क्षत्रिय की संयुक्त मनोवृति का होगा, जिसके सम्मुख सारा विश्व नतमस्तक होगा । समयोपरान्त महाराज गाधि जिनकी कोई संतान नहीं थी वहाँ विश्वामित्र ने और ऋषि ऋचिक के यहाँ जमदग्नि ने जन्म लिया । विश्वामित्र श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी बन कर ब्रहार्षि कहलाये । ऋषि जमदग्नि चारो वेदों में निपुण और ब्रह्मतेज सम्पन्न थे । उनका विवाह काशी नरेश महाराजा प्रसेनजित की सुपुत्री राजकुमारी रेणुका से सम्पन्न हुआ, जिनके पाँच पुत्र हुए । जिसमें एक परशुराम थे । इनका लालन-पालन व शिक्षा-दीक्षा जमदग्नि के आश्रम में ही हुआ परशुराम ने गन्धमादन पर्वत पर कठोर तपस्या की, जिसमें भगवान शिव ने परशुरामजी को अनेक दिव्यास्त्रों के साथ अबोध दिव्य परशु भी प्रदान किया । जिसके कारण "राम" "परशुराम" के नाम से विख्यात हुए । किसी कारण से परशुराम के पिता अपनी पत्नी से रूष्ट होकर परशुराम को अपनी माता का ही सिर काटने का आदेश दे दिया । पितृ आज्ञा का पालन करते हुए, उन्होंने अपनी माता रेणुका का सिर काट डाला । बाद में दुखी होकर

भगवान से प्रार्थना करने लगे और भगवत कृपा से कहते है माता का सिर जुड़ गया और वह जीवित हो गई। श्री रामचन्द्र के द्वारा धनुष यज्ञ में शिव धनुष तोड़ने से क्रोधित होकर परशुराम मिथिला नगरी आये और श्री रामचन्द्रजी से उन की बहुत झड़प हुई। रामचन्द्रजी शांत रहकर उन्हें शांत होने की प्रार्थना करते थे, परन्तु परशुराम बार-बार क्रोधित होकर उन पर परशु से वार करने की कोशिश करते थे । एक महान विद्वान ऋषिपुत्र और उसमें इतना क्रोध, जो बात को समझे विना ही रामचन्द्र से झगड़ा कर रहे थे ! स युग में परशुराम को क्षत्रियों का दुश्मन मानते थे । अब उन्हें कैसे पितृभक्त कहें ; जिनकी आज्ञा से उन्होंने अपनी माता का सिर काट लेते हैं। आज के युग में जनमानस पिता के स्थान पर माता का स्थान ऊँचा मानते हैं, जिसके गर्भ से उसका जन्म हुआ है, जिसने उसका लालन-पालन किया है ।

पौराणिक कथाओं में आता है, श्री परशुराम ने श्रीकृष्ण को राजधर्म की स्थापना करने की प्रेरणा दी । श्रीकृष्ण, बलराम और भीष्म पितामह को युद्ध कौशल की शिक्षा प्रदान की, गुरू द्रोण को प्रशिक्षण देकर उन्हे द्रोणाचार्य बनाया। क्या परशुराम की इतनी लम्बी उम्र थी कि वे त्रेता राम के युग में भी रहे और द्वापर युग में कृष्ण के साथ भी रहे । एक कथा आती है कि महाराज दशरथ के पहले अयोध्या के महाराज सगर थे, जिनकी दो रानियाँ थी। एक केशिनी जिनका सिर्फ एक पुत्र था । दूसरी रानी सुमति जिसके साठ हजार पुत्र थे । अब इस पौराणिक कथा पर कैसे विश्वास हो, एक स्त्री के साठ हजार पुत्र कैसे हो सकते हैं !

पुराण में एक कथा आती है - महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ थीं, एक का नाम "कद्रु" और दूसरी विनता । दोनों महर्षि कश्यप की बहुत

सेवा करती थीं। कद्रु के 1000 नाग पुत्र थे । विनता के दो प्रतापी पुत्र थे । कद्रु की सारी संतान नाग सर्पो के रूप में हुई । विनता की किसी भूल के कारण उसको अपने पति की आज्ञा से उसे कद्रु की दासी बनकर रहना पड़ा । विनता के एक पुत्र गरूड़ ने जब अपनी माँ की यह दुर्दशा देखी तो उसे दासता से मुक्ति दिलाने के लिए विमाता कद्रु की शर्त पर स्वर्ग से अमृत कलश लाकर दिया । परन्तु वह अमृत अपने पुत्रों को पिला नहीं सकी, रात्रि में इन्द्र आकर वह अमृत उठा ले गया । कद्रु के 1000 पुत्रों में एक शेषनाग था, उन्होने सारी पृथ्वी को अपने सिर पर धारण किया, जिससे पृथ्वी हिले-डुले नहीं । वह अभी तक शेषनाग के सिर पर स्थिर भाव से स्थित है । इस तरह की पौराणिक कथा से लोगों का पौराणिक कहानियों पर से विश्वास उठ जाता है । किसी मानवी स्त्री के गर्भ से नाग या गरूड़ पक्षियों का जन्म कैसे हो सकता है । शेषनाग का सारी पृथ्वी को सिर पर धारण करना और अब तक धारण किये रहना आखिर क्या है? भारत के पुराने इतिहास, जो पौराणिक कथाओं से जुड़े हुए हैं, से यह बोध होता है कि राज परिवारों, धन सम्पन्न व्यक्तियों एवं सम्पन्न प्रमुख ऋषिजनों में बहुपत्नी का प्रचलन था ।

उस युग में चार तरह के विवाह प्रचलित थे। बल प्रदर्शन द्वारा यानी कन्या का हरण, विवाह प्रतियोगिता में विजयी होकर शक्ति प्रदर्शन के माध्यम से, जिसे स्वयंवर कहते थे। कालान्तर में कन्या द्वारा स्वयं अपने वांक्षित वर का चुनाव करने की परिपाटी चल पड़ी । चौथा विवाह होता था, स्त्री-पुरूष एक दूसरे को पसन्द करके विवाह करते थे। प्रियतम व प्रेयसी परस्पर प्रेम करके अंत में विवाह करने का निर्णय कर लेते थे

और माता-पिता की सम्मति लेकर परिणय सूत्र में बँध जाते थे । इस विवाह को गंधर्व विवाह कहते थे । पाँचवा प्रकार, माता-पिता द्वारा योग्य चुनाव करके अपने पुत्र-पुत्री को बताकर उनका विवाह करा देते थे, जो आज भी प्रचलित है । कलियुग में बहु-पत्नी प्रथा, राजा-महाराजा और राजपूत ठाकुरों में कुछ अंश में थी, अब महाराज ही नहीं रहे, बहुपत्नी का रिवाज खत्म हो गया । कोई कर लेता है तो वह समाज की नजरों से गिर जाता है ।

आदिकाल के युग में भी लगता है राजसत्ता का लोभ, कामुकता वैसे ही थी जैसी आज है। देवता हम उसको कहते हैं, जो अपने सारे विकारों का क्षय करके, देवयोनी में जन्म लेता है । परन्तु पौराणिक कथाओं, वेद एवं उपनिषद में लिखी उस युग की कथा से यही समझ में आता है कि देवों का देवता राजा इन्द्र की सभा में अप्सरायें नाचती हैं, देवता लोग सोमरस का पान करते हैं। इन्द्र को सदा अपने राज सिंहासन की चिन्ता बनी रहती है। कहीं भी कोई महान योगी गहरी तपस्या में लगता है, उसे न तो भोजन की चिन्ता है, न शयन की । वह निरन्तर तपस्या में मग्न होते हैं। उनके तप से इन्द्र का आसन डोलता है और इन्द्र तत्काल चिन्ता में डूब जाता है। उसे आशंका होने लगती है कि कहीं यह तपस्वी मेरे सिंहासन की इच्छा से तो तपस्या नहीं कर रहा है और तब वह कोई एक प्रमुख सुन्दरी अप्सरा को भेज दिया करता है। वह अप्सरा योगी के सामने काम्गेन्मत भाव से नृत्य करती है। सुरीली आवाज में गीत गा कर रिझाती है। अपने सारे हाव-भाव से योगी को रिझाकर उसकी

तपस्या भंग करने का प्रयास करती है । यह कोई एक घटना नहीं, ऐसी अनेक घटनाओं का चित्रण पौराणिक कथाओं में मिलता है ।

ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिए मेनका अप्सरा को भेजा, जिसने उनका तप भंग किया और मेनका से एक पुत्री का जन्म हुआ, जो शकुन्तला के नाम से प्रसिद्ध हुई। नारद की तपस्या भंग करने के सारे प्रयास किए गए, परन्तु इन्द्र को सफलता नहीं मिली। भगवान शिव की तपस्या भंग करने के लिए भगवान विष्णु ने काम देव और रति को भेजा, उन्होंने सारे प्रयास किए, अंत में शिव की क्रोधाग्नि में वे जल कर भस्म हो गये। देव लोक में, स्वर्ग लोक में, तो वही प्राणी जन्म लेते हैं,जिन्होंने जीवन में पुण्य ही पुण्य किये हों, उनके द्वारा हजारों लोगों के दुख दूर हुए, ऐसे जीवात्माओं को देव की उपाधि मिली और उन देवताओं के राजा इन्द्र को अपने सिंहासन के प्रति इतनी राग तृष्णा कि कोई उसका सिंहासन तपस्या द्वारा प्राप्त नहीं कर लेवे? इस ईर्ष्या, द्वेष के कारण वह, योगी महान आत्माओं की तपस्या भंग कराता है तो इन्द्र में और संसार के साधारण प्राणियों में क्या अंतर रहा? उनको तो, ब्रह्माम्ड में कहीं भी तपस्या, धर्म का विस्तार होता है तो खुशी होनी चाहिए, चाहिए कि उनकी वे मदद करें । कलियुग में भगवान गौतम बुद्ध और भगवान महावीर की कठोर तपस्या के समय, कहते हैं कि सारे देव उन पर फूलों की वर्षा कर रहे थे ।

पुराण में कथा आती है कि हिमालय में बद्रीनारायण के पर्वत पर नर एवं नारायण ऋृषि ने एक हजार वर्ष तक तपस्या की । उन्हें अनेको

गोचर अगोचर सिद्धियाँ प्राप्त हुई। उनकी कठिन घनघोर तपस्या से इन्द्र का सिंहासन डोलने लगा । इन्द्र को उन ऋषियों की तपस्या से चिन्ता हुई । उन्होंने स्वर्ग की सबसे सुन्दर और काम कला, नृत्य एवं गायन में निपुण अप्सराओ को भेजा। वे दोनों ऋषि की समाधि भंग करने के लिए नृत्य एवं गान के द्वारा ऋषियों को लुभाने लगीं । दोनों ऋषियों की समाधि टूटी। उन्होने अप्सराओं से पूछा - इस निर्जन वन में तुम क्यों और किस के लिए अपनी कला का प्रदर्शन कर रही हो? अप्सराओं ने कहा "हमें देवताओं के सम्राट महाराज इन्द्र ने आपके मनोरंजन के लिए भेजा है।" ऋषि नर नारायण ने कहा - "क्या इन्द्र के पास तुमसे अधिक सुन्दर और नृत्य कला में निपुण और कोई अप्सरा नहीं है "? उन्होने अपनी तपस्या के बल से अपनी जाँघ से एक सुन्दर अप्सरा को उत्पन्न करके उन अप्सराओं से पूछा कि क्या तुम में से कोई इस अप्सरा से भी सुन्दर हो? या नृत्य गायन में इसका मुकाबला कर सकोगी? - इन्द्र की भेजी अप्सराओं ने स्वयं को पराजित महसूस कर सिर नवा लिया - दोनों ऋषि ने उस अप्सरा को चूँकि अपनी जँघा से उत्पन्न किया था, ऊर्वशी नामकरण करके कहा - "जाओ इस अप्सरा ऊर्वशी को हमारी ओर से इन्द्र को उपहार स्वरूप दे देना " । ऋषि अपनी तपस्या में जुड़ गये। कहते हैं - बद्रीनारायण में दो विशाल पर्वत तब से नर और नारायण के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

देव सम्राट इन्द्र इस तरह अनेकों ऋषि की तपस्या भंग करने के लिए अप्सरायें भेजते थे - च्यवन ऋषि के पुत्र मेधावी ऋषि की घनघोर तपस्या भंग करने के लिए मन्जुघोषा अप्सरा को भेजा था ।

भारत ऋषि मुनियों का देश कहलाता था-यहाँ पहाड़ की कन्दराओं में, गुफाओं में, एकान्त स्थानों में ऋषि-मुनि तपस्या करते थे। तपस्या से बहुत ऊँची अवस्था प्राप्त करके नगरों से जरा दूर में अपना आश्रम बना कर नागरिकों को, जो इसमें रूचि रखते थे, को ध्यान तपस्या का अभ्यास कराते थे।

नागरिकों के बच्चों का विद्या अध्ययन का काम भी आश्रम में ही होता था। श्रीकृष्ण, बलराम ने सन्दीपनी ऋषि के आश्रम में विद्या अध्ययन किया था वहीं वे ध्यान साधना एवं योग आदि का अभ्यास किया था। इन आश्रम के छात्रों में छोटे-बड़े घराने के होने का कोई भेद भाव नहीं होता था। चाहे कोई राजपुत्र हो या साधारण गरीब घराने का लड़का। जैसे कृष्ण और सुदामा ने एक ही गुरू से शिक्षा ग्रहण की थी ।

श्री रामचन्द्र ने अपने तीनों अनुज भ्राताओं के साथ श्री वशिष्ट ऋषि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण की थी । श्रीराम, लक्ष्मण, सीता अपने वनवास काल में अनेकों ऋषि के आश्रम में महीनों रह कर उनसे ध्यान तपस्या की शिक्षा प्राप्त कर वहाँ ध्यान तपस्या किया करते थे ।

ॠषि उन्हें ही कहते हैं - जिन्होंने दीर्घ समय तक एकान्त स्थान में ध्यान तपस्या करके अपना मन निर्मल कर लिया हो और जो अपने सारे विकारों को क्षय करके जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो गया हो। परन्तु पुराणों में कथा आती है, कई महा मुनि - ऋषि अनचाही घटना पर क्रोधित हो जाते हैं, कभी अति क्रोधित होकर सामने वाले को श्राप

दे देते हैं, जैसे दुवार्सा ऋषि, प्रचेता ऋषि इनसे लोग इतना डरते थे कि कहीं वे क्रोधित होकर श्राप न दे देवें, इसलिए उनसे दूर-दूर ही रहते थे।

ऐसे भी ऋषि हुए जो अपनी प्रसिद्धी पाने के लिए सिर्फ दिखावा करते थे। वैसे ही एक नामधारी ऋषि नगर के बाहर चारों तरफ अग्नि जला कर बीच में बैठ कर तपस्या का ढोंग करते थे। उनके शिष्य नगर में जाकर सब को बतलाने लगे कि एक महा मुनि घोर तपस्या कर रहे हैं। उनके दर्शन मात्र से नागरिकों के सारे दुःख दूर हो जायेगे। लोगों की भीड़ लगने लगी। किसी एक ने पूछा-तपस्या के लिए चारों तरफ अग्नि क्यों जला रखी है? यह कैसी तपस्या है? शिष्य ने कहा, "यह बहुत कठिन पंचाग्नि तपस्या है। चारों तरफ अग्नि उपर से सूर्य की गर्मी। किसी ने कह दिया ढोंगी है, तपस्या का प्रदर्शन कर रहा है। तपस्या करनी हो तो कोई निर्जन एकान्त स्थान में ध्यान करें । यह प्रदर्शन क्यों? ऋषि वचनों की गर्मी नहीं सह सके - अपने कमन्डल से जल लेकर कहा मैं तुम्हें श्राप दे रहा हूँ - तू ने एक ऋषि का अपमान किया है। उस निडर नागारिक ने कहा - आप ने अग्नि से शरीर को तो तपा लिया किन्तु मन अभी तक नहीं तपा है। जब तक मन को तपा कर शुद निर्मल नही कर लोगे - बुद्धि की शुद्धि नहीं होगी। तपस्या के प्रदर्शन से कोई लाभ नही होनेवाला ।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र

महर्षि वाल्मीकि ने महाकाव्य रामायण में मर्यादा पुरुषोतम श्री रामचन्द्र के जीवन का सजीव चित्रण किया है । आर्यों की प्राचीन सभ्यता की जानकारी देने वाला यह महान ग्रंथ अतुलनीय है। इसे पढ़कर धर्म संवेद जागता है। राम एक प्रकाश स्तम्भ थे । पिता ने राज्याभिषेक की बात कहकर भी वन जाने की आज्ञा दे दी और राम तत्काल बिना कुछ कहे वन में चले गये । कितना महान त्याग और आदर्श था! भरत, तीनों माताएँ, गुरू वशिष्ठ आदि चित्रकूट में आकर राम को समझाते हैं, अनुनय करते है कि वे अयोध्या लौट चलें, राज कार्य का भार सम्भालें। परन्तु राम पिता की आज्ञा की अवहेलना करने से इन्कार करते हुए 14 वर्ष वनवास का जीवन जीते हैं। ऐसे महान पुरुष को "परमात्मा राम" बनाकर उनकी महानता घटा दी। चमत्कारों की चादर ओढ़ाने के लिए श्लोक गढ़े गये और सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त से भरा है (बाद में मिलाया गया)। यह प्रक्षिप्तवाद ही ग्रंथों से श्रद्धा हटाता है, लोग अब कहने लगे, मानने लगे कि रामायण, महाभारत कवि की कल्पना है। धर्मान्धता से भरकर

अन्ध श्रद्धालु, विद्वान भक्त, चमत्कारी कथाओं के श्लोक गढ़-गढ़ कर, ग्रंथों में जोड़ते चले गये। इन महान पुरुषों को, परमात्मा का रूप देने के लिए उनके जीवन के साथ असम्भव बातों को बिना सोचे समझे ही इतिहास में मिलावट करते चले गये । जिससे रामायण, महाभारत, एक उपन्यास बनकर रह गया। इतिहास में जब चमत्कार आ जाते हैं तो वह इतिहास नही रहता। भक्त कवि सूरदास, गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव, "सतसई" के रचयिता बिहारी-भक्ति की भावुकता में आकर श्रीकृष्ण के चरित्र को निम्न स्तर पर ले गये । महर्षि वाल्मीकि का राम महामानव है, जब कि महाकवि तुलसीदास उसे परमात्मा मानते हैं, इसलिए उनको केवट की, अहिल्या की घटना जोड़ना पड़ा जो वाल्मीकि की प्राचीन रामायण .में नहीं थीं। बीच-बीच में कथा को चमत्कारों की चादर से ढ़कना पड़ा, यही इतिहास बिगाड़ने का कारण है। एक साथ दो अवतार बना लेते है और दोनों को लड़ा भी देते हैं। किसी को धरती से पैदा किया कहते हैं, किसी को 10 सिर वाला बना देते हैं किसी से पहाड़ उठवाया, किसी से सूर्य को निगलवाया, किसी ने सारा समुद्र पी लिया ऐसा बता दिया। ऐसे चमत्कारों के कारण बुद्धिजीवियों में उपेक्षा की भावना बनी। हम राम को महामानव मानें तो उनकी महानता बढ़ती है। राम के चरित्र से, उनके आदर्श जीवन से प्रेरणा लें, उनकी मूर्ति से नहीं। उनके आदर्श को अपने जीवन में उतारें, उनकी मूर्ति पूजा से कुछ नहीं होगा।

हम अपने इतिहास का चिन्तन, मनन, अध्ययन करें तो हमारे सारे महापुरुष जिन्हें हमने अवतार का रूप दिया है, वे उस युग के महान

पुरूष थे। मनुष्यत्व की चरम अवस्था तक पहुँचे हुए थे, ऊर्द्धवता के प्रधान स्तम्भ थे । अपने जीवन को उन महान पुरुषों ने चरम अवस्था तक पहुँचाया और वे सब हमारे लिये आदर्श हो गये, पूजनीय बन गये। इन सबके जीवन को उदाहरण बनाकर हम उसको, अपने जीवन में उतारें, तो ही हम सही मायने में उनके भक्त या अनुयायी कहलाने के योग्य हैं। उपनिषद के ऋषियों की भांति "अहम ब्रह्मास्मि" और मंसूर की तरह "अनलहक" की स्थिति में पहुँचने की सारी योग्यता हमारे में हैं। हम उसको समझें, मनन करे और अपने जीवन में उतारें। श्रद्धा-भक्ति गलत नहीं है, बहुत आवश्यक है, परन्तु वह श्रद्धा या भक्ति अंधभक्ति हो तो नुकसान पहुँचाती है। प्रकृति ने हमें बुद्धि दी है, हममें प्रज्ञा है। हम निर्णय लेने के पहले चिन्तन करें, मनन करें। अगर कोई भी विषय हमारे वर्तमान जीवन के लिए, आने वाले जीवन के लिए अनुकूल पड़ता है तो हम उसे ग्रहण करें, उसे अपने जीवन में उतारें।

आर्य संस्कृति में परस्पर सम्मान सूचक सम्बोधन हेतु "भगवान" या "प्रभु" शब्द का प्रयोग होता था, शायद कालान्तर में इन शब्दों का ईश्वर के रूप में अर्थ लिया जाने लगा हो। परिणाम यह हुआ कि तथाकथित कई महापुरुषों की गणना ईश्वर के रूप में की जाने लगी। मंदिरों में उनकी मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा अर्चना शुरू कर दी गई। श्रीराम का तो बहुत महत्वपूर्ण आदर्श था, वन जाने की बात सुनते ही कैकेयी से कहते हैं, "माँ पिताजी को इतना कष्ट और दुखी क्यों किया, मुझे कह दिया होता, मैं आपकी आज्ञा कैसे टालता!" पितृ व मातृ भक्ति व आज्ञा पालन व निस्पृहता का ऐसा अनूठा उदाहरण मानव जाति के इतिहास में

कहीं सुनने व पढ़ने को नहीं मिला है। राज्य तिलक की घोषणा, वनवास की आज्ञा दोनों अवसर पर राम की मुखाकृति में कोई अन्तर दिखाई नहीं दिया। भरत जब यह घटना सुनता है तो कहता है, अनर्थ हो गया, भागा - भागा चित्रकूट जाता है, प्रार्थना करता है कि भाई वापिस चलिए माता ने गलत निर्णय लिया है, आप बड़े हैं राज्य आपको करना है, राज्य पर आपका अधिकार है, मैं जंगल में 14 वर्ष रहूँगा । बड़ा भाई कहता है, नहीं नहीं, पिता की आज्ञा है 14 वर्ष तुम्हें ही राज्य करना है। दो भाई परस्पर लड़ रहे हैं कि राज्य का वैभव तू भोग, तू भोग। कैसा आदर्श है, भाई-भाई का!

बालि और सुग्रीव के गदा युद्ध में सुग्रीव को धराशायी होता देखकर, श्री रामचन्द्र ने बालि को छुपकर अपने तीर से मारा, यह उस समय की आवश्यकता थी। अगर राम, भगवान होते तो वे सुग्रीव में इतना बल और शक्ति भर देते कि सुग्रीव बालि को मारकर राज्य ग्रहण कर लेता तब छुप कर बालि को मारने का कलंक राम को नहीं लगता।

लंका विजय के उपरान्त रावण के भाई विभीषण को वहाँ का राज्य सौंप देना, निःस्वार्थ त्याग की पराकाष्ठा का प्रतीक है। इन सबके अतिरिक्त एक और विशेषता देखने को मिली कि 14 वर्ष के बाद पुनः तीन ही प्राणियों ने अयोध्या में प्रवेश किया था, यह बात इस बात का संकेत करती है कि वनवास की अवधि में उन्होंने पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, तपस्वी के रूप में जीवन व्यतीत किया । रामायण में राम, वनवास को अपने माता-पिता का वरदान मानते थे वे कहते हैं कि अयोध्या में राज्य करते हुए मैं ऐसे महान संतों का दर्शन, उनके सतसंग,

उनके उपदेश का लाभ और उनके साथ बैठकर ध्यान तपस्या के लाभ से वंचित रह जाता। आम जनता से मिलने विशेष करके वनों में रहने वाले दीन हीन जनता से मिलने, उनके दुख दर्द को समझने का अवसर मिला। राम राम थे, ईश्वर कहना उनकी कीर्ति को धूमिल करना है । श्रीराम अन्तर्यामी नहीं थे, यदि वे अन्तर्यामी होते तो रावण के मन की बात जान लेते, न तो वे स्वर्ण हिरण के पीछे भागते और न ही रावण सीता को चुराकर ले जा पाता। राम ईश्वर होते तो मेघनाद के साथ युद्ध में मूर्छित हुए लक्ष्मण को अपनी शक्ति से सचेत कर देते, उसकी मूर्छित अवस्था को देखकर दुखी नहीं होते। श्रीराम सर्वज्ञ होते तो सीता की खोज के लिए हनुमान, अंगद आदि को नहीं भेजते, यहाँ तक कि श्रीराम को पिता दशरथ की मृत्यु का पता भी उस समय लगता है, जब भरत राम को लेने वन में आये, और राम को बताया कि पिताजी की मृत्यु हो गयी है। यह सुनकर वे दुखी हुए और बाद में उनकी आत्मशांति के लिए तर्पण आदि किया।

तुलसीदासजी ने राम को ईश्वर का रूप देने के लिए एक कथा जोड़ी कि राम-रावण युद्ध की समाप्ति के बाद देवराज इन्द्र श्रीराम के पास आकर उन्हें बधाई देते हैं और उनसे कुछ सेवा लेने के लिए प्रार्थना करते हैं। श्रीराम कहते हैं अगर सेवा देना चाहते हो तो अमृत की वर्षा करो, ताकि युद्ध में मरे सारे वानर जीवित हो जाएँ। श्रीराम से किसी ने पूछा कि अमृत वर्षा से सारे वानर जीवित हुए तो राक्षस भी जीवित हो जाने चाहिए थे। उन्होने कहा कि उन सबको तो मैं परलोक पहले ही भेज चुका था। फिर किसी ने आश्चर्य चकित होकर पूछा वे तो आपके दुश्मन थे

एवं अनाचारी दुष्ट स्वभाव के थे, उन्हें आपने क्यों मुक्ति प्रदान की, तो श्रीराम ने कहा कि कोई भी मनुष्य मेरा नाम चाहे भक्ति भाव से लेवे या विरोध भाव से लेवे, मेरा नाम लिया है, मेरे बारे में चिन्तन किया है, चाहे वह किसी भी भाव से हो उसकी मुक्ति अवश्यमेव होती है। राम को ईश्वर का रूप देने के लिए ऐसी अनर्गल बातें राम चरित मानस में जोड़ी गयी।

वाल्मीकि के अनुसार स्वयं राम ने कहा "आत्मानापुरूषं मन्ये रामं दशरथ मात्मजं" यानी मैं दशरथ पुत्र राम एक पुरूष हूँ। हम उनके आचरण को उनके आदर्श को अपने जीवन में उतारें - यही उनकी सही पूजा होगी।

दक्षिण देश की पवित्र भूमि पर राम, लक्ष्मण सीता ने साथ-साथ अपने वनवास का बहुत बड़ा भाग यहाँ बिताया था। पंचवटी का जंगल इस देश में ही है। वह "पर्णशाला", जिसमें वर्षों श्रीराम और सीता रहे यहाँ से ही रावण, माता सीता को हरण करके ले गया था। यह स्थान इसी दक्षिण देश की रियासत बस्तर में अब तक मौजूद है। रियासत बस्तर और हैदराबाद को गोदावरी नदी पृथक करती है। यह किष्किन्धा पर्वत और पम्पा नगरी तेलंगाना आंध्रप्रदेश में ही है। यहाँ ही वनवासी श्रीराम श्री लक्ष्मण के साथ सीता की तलाश करते करते पहुँचे। यहीं है हनुमान की जन्मभूमि, अंगद का क्रीडास्थल, यहीं शबरी तपस्वनी रहती थी, जिसने श्रीराम को वनवास के दिनों में मीठे बेर खिलाकर अपना जन्म सफल कर लिया था। यही वह भूमि है, जहाँ शूरवीर बानर जाति के योद्धाओं ने श्रीराम की सहायता का वचन दिया था। इसी भूमि ने नल

और नील जैसे विद्वान इन्जीनियर पैदा किये थे। जिसकी स्मृति रखने के लिए नलदुर्ग नाम रखकर एक किला इसी स्थान पर है।

राम कथा में कई पात्र ऐसे हैं, जिन पर शंकाएँ पैदा होती हैं - जैसे हनुमान, सुग्रीव तथा बालि आदि को बंदर तथा जामवंत को रीछ वतलाया गया है। वास्तव में उस समय वानर, ऋक्ष तथा नाग जातियाँ भारत में निवास करती थीं, जिनका कालान्तर में मांनव-जाति में समन्वय हुआ। इन जातियों का अस्तित्व ऐतिहासिक सत्य है, इसलिए उन्हें बन्दर या रीछ कहना गलत है। वाल्मीकि ने जामवंत तथा हनुमान को वेदज्ञ और व्याकरण का विद्वान बतलाया। स्पष्ट है पशुओं से वेदज्ञ होने की आशा नही की जा सकती। हनुमान का छलांग लगाकर कोसों दूर चले जाना यह बताता है कि उन्होंने ध्यान साधना के द्वारा कुछ सिद्धियाँ पाप्त की होगीं और इससे वे कहीं भी सशरीर आवागमन कर पाते होगें। इसी प्रकार जटायु को गिद्ध बतलाना भी गलत है। वह सम्राट दशरथ का मित्र था और सीता उसे आर्य शब्द से संबोधित करती थी। निश्चित ही ऐसा व्यक्ति गिद्ध नही हो सकता। श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ में इसे गृद्धकूट का भूतपूर्व राजा बताया है, जिसकी जटायें बढ़ी हुई थीं और इसलिए उसे जटायु कहा जाता था। हो सकता है वे विज्ञान की खोज में अपने स्वचालित यान द्वारा ग्रह नक्षत्रों की खोज में बहुत ऊपर चले जाते हों और वहाँ की विकिरण तरंगों से झुलस कर नीचे आ गिरे हो और तेजहीन हो गये हों। वाल्मीकि ने जटायु को कहीं कहीं "पक्षी" भी कहा है, लेकिन श्री जगदीश्वरानन्द के अनुसार वहाँ पक्षी का अर्थ जानवर से नही अपितु विद्वान से है। "ये वे विद्वांस्ते पक्षियों: ये विद्वांसस्ते पक्षा:।

अर्थात जो विद्वान होते हैं पक्षी और जो अविद्वान होते हैं वे पक्षरहित हैं।" इसी तरह कागभुसंडी को कौवा मानना भी गलत है। वे परम विद्वान और धर्म के गूढ़ तत्व के ज्ञाता थे। रामकथा में यत्र-तत्र आने वाली इस प्रकार की असंगत बातों को काव्य सुलभ अलंकारिक भाषा भी माना जा सकता है।

अधिकांश विद्वानों में मतभेद है कि वाल्मीकि रामायण में उत्तर कांड बाद में लिखा हआ है। स्वयं श्री जगदीश्वरानंद सरस्वती भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। उसकी भाषा और शैली, शेष रामायण से अलग हटकर है। वाल्मीकि की मूल रामायण युद्ध कांड पर ही समाप्त हो जाती है। युद्ध कांड के अंत में रामराज्य के विस्तृत वर्णन के अतिरिक्त रामायण महात्म्य का भी वर्णन दिया गया है। स्पष्ट है कि कथा या ग्रंथ के महात्म्य का वर्णन उसके अंत में ही होता है। महाराजा भोज के समय में "चंपुरामायण" लिखी गयी, जिसे वाल्मीकि रामायण का संक्षिप्त रूप माना जाता है। इसमें भी सिर्फ युद्ध कांड तक की कथा का वर्णन है। उत्तर कांड की सर्वाधिक प्रमुख घटना सीता परित्याग की है और इस घटना की चर्चा सर्वाधिक प्राचीन पुराण विष्णु पुराण में नहीं हैं। हरिवंश पुराण, वायु पुराण, नृसिंह पुराण जैसे अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी इस घटना की चर्चा नहीं है। आध्यात्म रामायण और कम्ब रामायण में इसका उल्लेख नहीं है।

यह संभव है कि उन दिनों की परिस्थितियों के अनुकूल समाज में महिलाओं और शूद्रों की स्थिति को हीन प्रमाणित करने के लिए किन्हीं

राम भक्त पुरोहितों ने ही रामायण में उत्तरकांड जोड़ दिया है। राम जो अछूत केवट को गले लगाते हैं, शबरी के द्वारा दिये गये फल-फूल बड़े प्रेम से और सम्मान से खाते हैं, वहीं राम शंबूक का वध केवल इसलिए कर देते हैं कि छोटी जाति का होते हुए भी उसने तपस्या की थी, यह बात किसी भी आधार पर गले नहीं उतर सकती।

यह मान्यता है कि नल नील को यह वरदान प्राप्त हुआ था कि उनके द्वारा समुद्र में रखे गये पत्थर डूबते नहीं थे और इसी से उन्होने पुल का निर्माण किया था। निश्चित ही यह तर्कसंगत बात नही लगती। वाल्मीकि रामायण में इस प्रकार के वरदान का कोई उल्लेख नही है। सम्भवतः यह बाद में की गई कल्पना है। वस्तुस्थिति यह है कि नल नील कुशल इंजीनियर थे और उन्होंने अपनी प्रतिभा के आधार पर ही पुल बनाया था।

"मानस" में बताया गया है कि श्राप के कारण अहिल्या पत्थर की हो गई थी। श्रीराम ने अपने चरण उसके मस्तिष्क पर रखकर उसे वापिस नारी का रूप दे दिया। यह बात वैज्ञानिक दृष्टि से एवं प्रकृति के नियमानुसार भी गलत है। वाल्मीकि के अनुसार अहिल्या को केवल श्राप दिया गया था कि वह बर्षों तक तपस्या करती हुई पृथ्वी पर ही शयन करे। श्री राम जब आश्रम में आये तो उन्होने आगे बढ़कर अहिल्या के चरण छुए और उसे हीन भावना से मुक्त किया। हो सकता है कि अहिल्या पर जो कलंक लगा, पति के द्वारा श्राप मिला, अवहेलना हुई, इससे वह जड़ हो गई, पत्थर की तरह गुमसुम हो गयी, श्री राम के द्वारा वह हीन भावना से मुक्त हुई।

राम कथा में कहीं कहीं द्विअर्थी शब्दो के कारण भी शंकाएं उत्पन्न हुई हैं। उदाहरणार्थ रावण के लिए जो "दशानन" शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अर्थ "दस मुख वाला" नही है, बल्कि ऐसे व्यक्ति से है, जिसका प्रभाव दसो दिशाओं में हो। श्री अरुण ने अपने ग्रन्थ "भारतीय पुरा इतिहास कोश" में दशानन का एक और अर्थ दिया है वह है "चार वेद तथा छः वेदांगों का ज्ञाता" । "दसानन" के आधार पर ही रावण की बीस भुजाओं की भी कल्पना कर ली गई, जो वास्तव में गलत है। युद्ध के समय भी महर्षि वाल्मीकि ने रावण के एक मस्तक तथा दो भुजाओं की ही बात कही है। इसी तरह "दशरथ" का अर्थ दस रथों का स्वामी नहीं है अपितु दसों दिशाओं में अपना प्रभाव रखने वाले व्यक्ति से है। शब्द कल्पद्रुम में "दशरथ" की व्याख्या इस प्रकार दी हुई है - "दश सुदिक्षु गतो रथो यस्य" अर्थात जिसके रथ की गति दसों दिशाओं में हो। कहीं इसका अर्थ यह भी माना है जिसने अपने पाँचों ज्ञान इन्द्रियों और पाँचों कर्म इन्द्रियों को रथ के घोड़े की तरह अपने वश में कर रखा हो।

राम अपने आदर्शो के कारण, भारत के जन और कण-कण में इतने लोकप्रिय हुये कि वे इस देश की सीमाओं को पार कर विदेशों तक में पहुँचकर वहाँ की वाणी का श्रृंगार और अभिनय का आधार बन गये।

सारे दक्षिण पूर्वी एशिया में रामायण का विशेष योगदान रहा है। इन्डोनेशिया-जोग्याकार्ता (जकार्त्ता) जहाँ 1971 में अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन हुआ था जो जोग्याकार्ता नगर का नाम आयोध्याकृत का ही बदला हुआ रूप है, जिसका अर्थ है "अयोध्या नगर" । यह स्थान जावा की अयोध्या नगरी है। वहाँ के रामायण का अभिनय सर्वश्रेष्ठ माना जाता

है। जोग्याकार्ता के सुल्तान बक्कुआलम स्वयं रामायण की मण्डली लेकर भारत आये थे। नयी दिल्ली में पाँच दिन उन्होनें रामायण के अभिनय का प्रदर्शन किया, उनकी एक पुत्री ने सीता का, दूसरी ने त्रिजटा का अभिनय किया।

इन्डोनेशिया में "ककविन रामायण" जो कवि योगीश्वर के द्वारा रची गई थी प्रसिद्ध है। वैसे इन्डोनेशिया में कई रामायण प्रसिद्ध रहे हैं यहाँ जगत प्रसिद्ध "शैव मन्दिर" "प्रम्यानन" की दीवारों पर रामायण के नवीं शताब्दी के भिति चित्र हैं।

चन्डी-लेरो-जोगरंग के उप मंदिर की दीवारों पर सम्पूर्ण रामायण चित्रित है। चन्डी-लेरो-जोगरंग का अर्थ है, कमनीय देवी का मंदिर। रामायण के प्राचीनतम भिति चित्र इसी मंदिर में मिलते हैं।

इसी तरह थाईलैण्ड (स्याम प्रदेश) की राजधानी बैंकॉक में वहाँ के जगत प्रसिद्ध विशाल बौद्ध मंदिर जिसमें भगवान गौतमबुद्ध की जवाहरात मणिक की बनी मूर्ति है, के चारों तरफ दीवारों पर सम्पूर्ण रामायण चित्रित है। वहाँ के राजा के नाम के साथ "राम" जुड़ा रहता है। वे मानते हैं - राम का जन्म उनके देश में ही हुआ है । वहाँ भी एक अयोध्या नगरी है। कम्बोडिया प्रदेश की विश्व प्रसिद्ध प्राचीन नगरी "ओंकारवाट" के एक विशाल प्राचीन मन्दिर की दीवारों पर भी रामायण कथा चित्रित है।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻

श्री हनुमानजी

श्री हनुमान अत्यन्त बलशाली, परम पराक्रमी, शील, सदाचार का जीवन जीने वाले, जितेन्द्रिय, ज्ञानियों में अग्रगण्य, बहुत सेवा भावी व्यक्ति थे। लोगों ने अज्ञानवश उन्हें बन्दर मान लिया, उनकी एक लम्बी पूंछ बता दी.... जबकि वे वानर जाति के एक महान योद्धा थे। तपस्या के द्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थी। वे शास्त्रों के ज्ञाता, वीरता की साक्षात् प्रतिमा एवं शक्ति तथा बल पराक्रम की जीवन मूर्ति थे। उनकी स्वामी भक्ति, भगवान राम के प्रति अनन्य निष्ठा और प्रशंसनीय विनय अतुलनीय था।

भारतीय पुराणों में श्री हनुमानजी के जन्म के बारे में अनेको अलग-अलग वर्णन लिखे हैं। स्कन्ध पुराण में कथा है कि, केसरी की पत्नी अंजनी, अत्यन्त दुःखी होकर मतंग ऋषि के पास जाकर प्रार्थना की कि उनकी कोई संतान नहीं है अतः उन्हें पुत्र प्राप्ति का कोई उपाय बताईये। मतंग ऋषि ने उन्हें बताया कि वह पम्पा सरोवर से कुछ दूर पर आकाश गंगा तीर्थ है, वहाँ जाए और द्वादश वर्ष तक तप करें। अंजनी वहाँ

जाकर, वहाँ ऋषि मुनि जो तप कर रहे थे उनका आर्शीवाद लेकर 12 वर्ष, कंद मूल खा कर कठिन तप की, फल स्वरूप उसको एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। भारतीय पुराणों की अजीव लीला है - ब्रह्माणड पुराण में उनके जीवन का प्रसंग अलग ही दिया है कि केसरी नाम के एक असुर ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए जितेन्द्र व निराहार रह कर तप किया, इससे शिवजी ने खुश होकर उसे दर्शन दिया और इच्छानुसार वर मांगने को कहा तब केसरी ने एक बलवान पुत्र की मांग की, शिवजी ने कहा तुम्हारे भाग्य में पुत्र का सुख नहीं लिखा है, मैं तुम्हें एक सुन्दर कन्या का वरदान दे रहा हूँ जिसके गर्भ से एक महान बलशाली पुत्र उत्पन्न होगा। उस वरदान के अनुसार हनुमानजी का जन्म हुआ। भारतीय पुराणों में हनुमानजी के जन्म का अनेक रूपों में उल्लेख मिलता है। श्री हनुमानजी कहीं शंकर सुवन हैं, कहीं पवन तनय, कहीं केसरी नन्दन कहीं आंजनेय और कहीं साक्षात् शंकर का अवतार बताया गया है।

शिव पुराण की तो महिमा ही अलग है, उसमें कामवासना से ग्रसित अनेक देव-देवताओं का वर्णन कथाओं के रूप में दिया है, उसमें हनुमानजी के जन्म का वर्णन है :

एक समय भगवान शम्भु को भगवान विष्णु के मोहिनी रूप का दर्शन हुआ, उसे देख कर उनका वीर्य स्खलित हो गया, उस वीर्य धातु को स्पतक ऋषियों ने एक पत्ते में सुरक्षित रख लिया। तत्पश्चात उन्होंने शम्भु की प्रेरणा से उस वीर्य को गौतम कन्या अंजना के कान के रास्ते गर्भ में स्थापित किया। समय आने पर उस गर्भ से वानर शरीर धारी पुत्र का जन्म हुआ, जो हनुमान के नाम से विख्यात हुआ। एक कथा आती

है, अप्सराओं में परम सुन्दरी पुंजिकस्थला जो विश्व विख्यात थी। ऋषि के शाप से उस काम रूपिणी वानरी का पृथ्वी में जन्म हुआ और वही केसरी की भार्या होकर अंजना के नाम से विख्यात हुई। सुमेरू पर केसरी, राज्य शासन करते थे। अंजना उसकी पत्नी थी। अंजना का मनोहर रूप देख कर पवन देव मोहित हो गये और उन्होंने उसका आलिंगन किया। अंजना ने दुःखी होकर कहा - कौन दुरात्मा मेरा पति व्रत्य धर्म नष्ठ करने को तैयार हुआ है, मैं अभी शाप देकर भस्म कर दूँगी। सति साध्वी अंजना को क्रोधित देख कर पवन देव ने क्षमा मांगी और कहा - जो तुम्हारी संतान होगी मैं उसकी रक्षा करूँगा।

श्री हनुमानजी ने राम वनवास में जो उनकी सेवा की, अद्‌भुत पराक्रम दिखाया वह तो सबको विदित है।

श्री हनुमानजी ने अपनी अद्‌भुत वीरता, श्री रामजी की अनवरत सेवा, आदर्श चरित्र, अनन्य भक्ति आदि अनन्त सदगुणों से केवल अपना ही जीवन सफल नहीं किया बल्कि अपने महान आदर्श से लोगों में यह प्रेरणा दी कि वे भी जो स्वयं को राम भक्त कहते हें - उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारें।

रामायण की कथाओं में श्री हनुमानजी के बारे में आता है कि वे हिमालय से श्री लक्ष्मणजी की मूर्च्छा छुडाने के लिए, संजीवनी बूटी लाने गये तब उन्हें संजीवनी बूटी की पहचान में गलती नहीं हो जाए और उससे श्री लक्ष्मणजी के प्राण संकट में न पड़ जाये, इससे बचने के लिए पूरा पहाड़ ही उठा कर ले आये। पहाड़ कोई अलग पदार्थ नहीं होता है, जिसे कोई उठा सके। पहाड़ पृथ्वी का ही भाग होता है, जो भाग बहुत ऊँचाई

ऊंचा होता है, उसे पहाड़ या गिरि कहते हैं जो समतल भूमि से बहुत नीचा होता है उसमें वर्षा का जल भर जाता है, उसे तालाब और जो जल निचाई में बहने लगता है उसे नदी या सरिता कहते हैं।

चूँकि श्री लक्ष्मणजी के जीवन का प्रश्न था श्री हनुमानजी किसी तरह की विपदा लेना नहीं चाहते थे, वे जो भी संजीवनी बूटी से मिलती जुलती जड़ी-बूटी मिला सभी उठा कर ले आये तो एक मुहावरा बन गया कि पूरा पहाड़ ही उठा कर ले आये।

अब हम "द्वापर युग" में आयें - द्वापर युग की कथा हमें श्री वेदव्यास जी द्वारा लिखित "महाभारत" कथा से मिलती है। महाराजा शान्तनुः गंगा नदी में स्नान कर रहे थे। गंगा के रूप लावण्य से मोहित होकर, उन्होने उनसे विवाह का प्रस्ताव रखा। श्रीमती गंगा ने इस शर्त पर कि वह जो भी करेगी महाराज उनसे प्रश्न नहीं करेगें, कारण जानने का प्रयत्न नही करेगें। अगर कारण पूछ लिया तो वह उसी क्षण उन्हें छोड़कर चली जायेगी। शान्तनु जी ने यह शर्त स्वीकार कर ली। गंगा से उनका विधिवत विवाह हुआ और कुछ वर्ष पश्चात जब उनके पहली संतान हुई; उस नवजात पुत्र को गंगा नदी में बहा दिया। राजा ने दुखित मन से यह देखा, पर शर्त के अनुसार शांत रहे, इसी तरह गंगा अपने एक के बाद एक नवजात पुत्रों को जन्म लेते ही नदी में बहाती रही। जब गंगा ने शान्तनु के आठवें पुत्र को भी नदी में बहाने का प्रयास किया, तो महाराजा शान्तनु ने उसे टोकते हए कहा "गंगा! रुक जाओ-बहुत हो गया। मेरे सातों पुत्रों को तुमने बारी-बारी से नदी में बहा दिया। मगर मैं अपने वचनों के बन्धन में अभी तक खामोश रहा हूँ। अब हस्तिनापुर का यह अंतिम

उत्तराधिकारी मुझे दे दो अन्यथा यह राज्य अपने उत्तराधिकारी से वंचित हो जायेगा। गंगा को दिये वचनों को तोड़ देने के कारण, गंगा उन्हे छोड़कर चली गयी। बालक को पानी में नहीं बहाकर अपने साथ ले गयी। उसका पालन पोषण किया। अपने पति शान्तनु को यह वचन देकर उसे लायी थी कि उसके किशोर होने पर उन्हें लाकर सौंप जायेगी। गंगा ने अपने पुत्र को धर्म की शिक्षा और हर तरह से तैयार कर उसे महर्षि परशुराम के आश्रम में ले गयी । उन्हें धर्म तपस्या एवं शस्त्र विद्या में निपुण करने के लिए प्रार्थना की। परशुराम जी ने उस किशोर को अपना शिष्य स्वीकार किया। उसे बाण विद्या, युद्ध संचालन एवं धर्म की सारी विद्याओं में पारंगत करके उसे महान बना दिया। अब प्रश्न उठता है - त्रेता युग के परशुराम जो जनक दरबार में शिवधनुष तोड़ने के अपराध में श्री रामचन्द्र को दण्डित करने आये थे - वह परशुराम द्वापर युग में देवव्रत के गुरू बने - उनकी इतनी लम्बी उम्र कैसे हो सकती है। एक युग से दूसरे युग में बड़ा अन्तर होता है। फिर महाभारत युद्ध के कुछ वर्षों बाद तो कलयुग आ गया था याने वह द्वापर युग का अन्तिम चरण था।"

महर्षि पराशर उस युग के प्रसिद्ध ऋषियों में एक थे, वे एक बार तीर्थ यात्रा के लिए निकले। उन्हें यमुना नदी पार करनी थी। मत्स्यगंधा (उपनाम) सत्यवती उन्हें नाव पर बैठाकर नाव चलाने लगी। पराशर मुनि ने सत्यवती के अतुल रूप सौन्दर्य और यौवन पर मोहित होकर उसका दायाँ हाथ पकड़ लिया। कामान्ध होकर सत्यवती से उनकी कामना पूरी करने के लिए निवेदन करने लगे। मत्स्यगंधा हँस कर बोली "हे ऋषि!

आप अधर्म कार्य क्यों कर रहे हैं; मैं तो छोटी जाति की निषाद पुत्री हूँ आप श्रेष्ठ योगी हैं, ऐसा मत कीजिए। ऋषि पराशर के नहीं मानने पर उसने कहा कि हे भगवनः नदी के दोनों किनारों पर ऋषियों का आश्रम है, वहाँ कई ऋषि खड़े जल तर्पण कर रहें हैं, इस तरह हम दोनो के मिलन का उन पर कितना बुरा प्रभाव पड़ेगा, आपकी निन्दा होगी। इस पर ऋषि ने अपने योग बल से कुहरा उत्पन्न कर दिया, जिससे स्थान अन्धकारमय हो गया। जब मत्सयगंधा ने देखा कि उसकी पहली आपत्ति व्यर्थ गई तो उसने एक दूसरी अड़चन डालकर इस पाप कर्म को रोकना चाहा। उसने प्रार्थना की "महर्षि आपके समागम में मेरा कन्या भाव नष्ट हो जाएगा, मैं अपने घर कैसे जा सकूँगीं। मुझ पर दया करके मुझे इस पाप कर्म से बचाइये। महर्षि ने उसकी एक नहीं सुनी। उस सुविचारी सरल ह्रदया निषाद् कन्या को अपने माया जाल में फंसाकर अपनी मनोकामना पूरी की। सत्यवती के गर्भ से महर्षि वेदव्यास का जन्म हुआ। इसी सत्यवती के रूप यौवन से मोहित होकर शिकार खेलने आये राजा शान्तनु ने सत्यवती के पिता से उसका हाथ मांगने की प्रार्थना की। केवट शान्तनु राजा से इस शर्त पर अपनी पुत्री विवाहने के लिए तैयार हुये कि उसकी संतान ही आपके राज्य का उत्तराधिकारी होगी। सम्राट शान्तनु की पहली पत्नी गंगा के गर्भ से भीष्म नाम के एक पुत्र का जन्म हो चुका था, वस्तुतः ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते वह राज्य का उत्तराधिकारी था। राजा इस शर्त को मानने के लिए हिचक रहे थे। पिता की असमंजसता देखकर पुत्र ने प्रतिज्ञा की कि न तो वह राज्य का अधिकारी होगा और न विवाह करेगा। आजन्म कुँवारा रहेगा, ताकि उसकी संतान भी कभी राज्य पर दावा न कर सके। सम्राट शान्तनु के सत्यवती के गर्भ से पुत्र का जन्म

हुआ। समय पाकर एक-एक करके काशीराज की दो कन्याओं से उनका विवाह हो गया। एक रानी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ उसका नाम विचित्रवीर्य रखा। युवा होने पर वे किसी युद्ध में मारे गये। दोनो बहुओं को नि:संतान देखकर माता सत्यवती को बड़ी चिन्ता रहती थी। सौतेले पुत्र भीष्म से उन्होने कहा कि वह विवाह कर ले ताकि उसकी संतान से आगे वंश चले परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा में अडिग रहे, ब्रह्मचर्य का ही पालन करते रहे। माता सत्यवती को आगे वंश चलाने के लिए एक राह सूझी अपने पुत्र वेदव्यास को बुलाकर अपनी दोनो बहुओं से नियोग कराके गर्भ धारण करने का सुझाव दिया। पहली रात्रि को रानी अम्बिका ने शर्माती हुई अपनी आखें बन्द करके ऋषि से सहवास किया-चूँकि वह आँखें बन्द कर रखी हुई थी, उसके जो बाद में संतान हुई वह अन्धा पुत्र हुआ। दूसरी रानी अस्वालिक ने अपने बदन में पीले रंग का चन्दन लेप लगा कर भोग किया, उसके गर्भ से एक पुत्र हुआ वह पाँडु रोग से ग्रसित रहा। मुनि वेदव्यास से अपनी काम वासना पूरी करने के लिए राज महल की मुख्य दासी जो बहुत श्रृंगार करके बड़े उल्लास और उमंग से आई और ऋषि मुनि से भोग किया। उसके बहुत स्वस्थ पुत्र का जन्म हुआ जो सर्व विद्या में निपुण होकर राज दरबार में मंत्री के पद में नियुक्त हुआ, उनका नाम विदुर था। वे बहुत ऊँचे भक्त थे, शील सदाचार का जीवन जीते थे। पहले पुत्र जो जन्मांध था, जिसका धृतराष्ट्र नाम पड़ा, दूसरा रोगी पुत्र का नाम पांडु रखा गया।

धृतराष्ट्र के नेत्रहीन होने के कारण, पाण्डु राजसिंहासन पर बैठे। धृतराष्ट्र की एक पत्नी थी गांधारी पांडु की दो रानियाँ थी कुन्ती और

माद्री। कहीं पर वर्णन आता है कि धृतराष्ट्र का एक पूत्र युयुत्सु, जो युद्ध के समय पाण्डवों की और हो गया था, वह गांधारी की कोख से नहीं, एक वैश्य - कुलांगना के गर्भ से हुआ था।

पांडु अपनी दोनों पत्नियों को लेकर कुछ वर्षो के लिए वनों में वास करने चले गये। पांडु - पांडु रोग से पीड़ित होने के कारण अपनी पत्नियों से पुत्रोत्पन्न करने में असमर्थ थे, उन्हें ऋषियों ने बता रखा था कि वे अपने मन में कामवासना नहीं जगायें, कदाचित कामाधं हो कर वे अपनी पत्नियों से भोग विलास का प्रयत्न किया तो उनकी मृत्यु हो जाएगी। दोनों रानियों की कोई संतान नहीं थी, इससे वे बहुत चिंतित और दुःखी थी। बड़ी रानी कुन्ती, कुछ देवों का आवहन करके, उनसे नियोग किया और एक-एक करके उसके तीन पुत्र हुए। इसी तरह माद्री को अश्वनीकुमारों के नियोग से दो पुत्र हुएः महारानी कुन्ती ने अपनी कौमार्य अवस्था में एक पुत्र को जन्म दिया था। लोका विवाद और परिवारजनो की बदनामी के भय से, उस शिशु को उन्होंने एक संदूक मे बन्द करके, नदी की धारा में बहा दिया था। उस बालक को अंगदेश का राजकुमार अधिरथ जो सूत का कार्य करता था, जिसे लोग सूत कह कर बुलाते थे, बहते पानी में से सन्दूक को निकाला और उसमें एक सुन्दर कोमल शिशु को पाकर फूला न समाया । उसकी कोई सन्तान नहीं थी। इसीलए उस शिशु को ही ईश्वर का वरदान मानकर अपने पुत्र की तरह उसका पालन पोषण किया जो बाद में कर्ण के नाम से महारथी, महान योद्धा के रूप में प्रसिद्ध हुआ। एक दिन ऐसा हुआ कि महाराजा पाण्डु ने कामातुर होकर माद्री से सहवास का प्रयत्न किया, इससे उनकी मृत्यु हो गयी। महारानी

माद्री अपने पति के साथ सती हो गई। महारानी कुन्ती ने पाँचो बालकों को समान प्यार देती हुई उनका पालन पोषण किया। कुछ समय के बाद वे पाँचो बालकों को लेकर अपने राज्य हस्तिनापुर पहुँची। सबने उसका स्वागत किया। पाँचो पुत्रों की शिक्षा दीक्षा, गांधारी के 100 पुत्रों के साथ शुरू हुई। पाण्डु के पाँचो पुत्र युद्ध विद्या में अपने अन्य भाईयों से अधिक निपुण निकले। गुरू द्रोणाचार्य, दादा भीष्म उन्हें बहुत चाहते थे। गांधारी के ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन ने पाण्डु पुत्रों से ईर्ष्या, द्वेष वश एवं उन भाईयों से जो राज्यधिकार की कभी माँग नहीं करते थे, जिसके वे अधिकारी थे, एक षडयंत्र रच कर उन्हें मरवाने का प्रबन्ध किया। राज्य से दूर एक नगर में बहुत सुन्दर, लाक्षागृह बनवाया, जिसमें सारी सुविधायें जुटा दी और बड़े भाई युधिष्ठिर से प्रार्थना की कि वे कुछ दिन मन बहलाने के लिए अमुक नगर में चले जाएँ, जहाँ उनके रहने की सारी सुविधा है। युधिष्ठर माता कुन्ती एवं चारों भाईयों को लेकर वहाँ चले गये। इस षडयंत्र का महाराज धृतराष्ट्र, गुरू द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह एवं विदुर को पता था कि दुर्योधन पाँचो पांडवों को कुछ दिन वहाँ रहने के बाद, लाक्षागृह में आंग लगा कर सब को मौत के मुँह में डाल देगा। परन्तु सब मौन रहे। विदुर ने अपने विश्वसनीय दूत द्वारा पांडव कुमारों को खबर भेजी तब वे सावधान होकर एक सुरंग बनाने में लग गये। बारी-बारी से एक-एक भाई इस कार्य में लगा रहता था जब दुर्योधन की योजना के अनुसार एक रात्री को लाक्षागृह में आग लगाई तब वे पाँचो भाई माता कुन्ती के साथ सुरंग द्वार से दूर जंगल में निकल कर भेस बदल कर यात्रा पर निकल पडे।

विदुर के सिवाय सब को यह भ्रम बना रहा कि पाँचो भाई और माता कुन्ती जल कर भस्म हो गये हैं। पाँचो भाई भेष बदल कर दूर देशों

में यात्रा करते रहे। यात्रा करते - करते जब वे पंचाल पहुंचे और वहाँ एक कुम्हार के यहाँ डेरा डाला, उसी दिन राजा द्रुपद के राज दरबार में द्रुपद की वेटी द्रौपदी का स्वयंवर था, यह पाँचों भाई भी ब्राहम्ण के भेष में राज दरबार में पहुँचे।

पंचाल देश के राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी को अर्जुन स्वयंवर में लक्ष्यवेध द्वारा जीत कर भीम और अर्जुन परम प्रसन्नचित से उस कुम्हार के घर में कुन्ती के पास पहुँच कर द्रौपदी के विषय में बोले कि "देखो माँ आज क्या अदुभत भिक्षा मिली है। कुन्ती, जो उस कुटी के भीतर थी, कुछ न देख कर दोनों पुत्रो से बोली" बेटा। सभी भाई मिल करके उस भिक्षा को भोगो, पीछे द्रौपदी को देख कर उसने कहा कि "हा। मैंने कैसी अनुचित बात कह डाली" । धर्मावतार युधिष्ठिर जो वस्तुतः अर्जुन के द्वारा जीत कर लाई हुई थी, जो उनकी अनुज वधु थी। माता की आज्ञा को सिरोधार्य करके यह निर्णय लिया कि द्रौपदी उन पाँचो भाईयों की पत्नी होगी। द्रौपदी पाँचो भाईयों की पत्नी हो गई।

विवाहोपरान्त सारा भेद खुल गया कि वे पांच, ब्राह्मण कुमार पाँच पांडव ही हैं। धृतराष्ट्र को मज़बूर होकर उन्हें हस्तिनापुर बुलाना पड़ा और आपसी मतभेद नहीं बढ़े। यह निर्णय लेकर पांडवो को आधा राज्य का बँटवारा करके उन्हें आधे राज्य के रूप में खाण्डव वन का विस्तृत जंगल जो इन्द्रप्रस्थ के पास सटा हुआ था उन्हें दिया, जिसे वे श्रीकृष्ण के सहयोग से सारे जंगल में आग लगवा कर वन की सफाई की और नये नगरों का निर्माण करके नये राज्य की स्थापना की। मय जाति के प्रमुख्य भवन-निर्माता को बुला कर राजमहल एवं राज्य सभा का निर्माण कराया।

दुर्योधन के बड़े दबाव के फल स्वरूप धृतराष्ट्र अपने अनुज भ्राता के पुत्र युधिष्ठिर को जुआ खेलने केलिए बुलाने विदुर को इन्द्रप्रस्थ भेजा। युधिष्ठिर अपने भाईयों एवं पत्नी द्रौपदी के साथ हस्तिनापुर आये और धूर्तराज शकुनि की झांसा-पट्टी में आकर एक-एक करके अपना राजपाट, धन-जन सब कुछ हार गए। जब दांव पर रखने के लिए उनके पास कोई सम्पति न रह गई तो वे पहले तो एक-एक करके अपने भाईयों को, फिर अन्त में स्वयं अपने आपको भी दांव पर रख कर खो बैठे। अंत मे अपनी एवं पांच भाईयों की पत्नी द्रौपदी को दांव पर रख कर उसे भी हार गये। ऐसा लगता है कि युधिष्ठिर जुआ खेलने में इतने पागल हो गये थे कि उन्हें उचित अनुचित का कुछ मी ज्ञान नहीं रहा।

महाभारत कथा में "द्रौपदी चीर हरण" एक ऐसा प्रसंग है जिस पर आश्चर्य होता है कि जिस सभा में पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, कुलगुरु कृपाचार्य, राजमाता महारानी गान्धारी उपस्थित थी, सब सिर नीचे किये बैठे रहे, किसी ने इसका विरोध नहीं किया। द्रौपदी, कुरूवंश की कुलवधु थी, अगर उसका इतना अपमान और राज्य सभा में उसके सतीत्व को इस तरह उछाला जा रहा है, तो हस्तिनापुर की जनता को आशंका होना स्वाभाविक है कि इनके राज्य में उनकी बहिन, बेटियों के सतीत्व की, क्या रक्षा हो सकेगी? कौरव राजसभा में द्रौपदी को क्रीतदासी जैसे शब्दों से अपमानित किया गया, उसे घसीटना और नग्नवसना करने का प्रयास, क्या राजदृष्टि से या समाजिक दृष्टि से शोभनीय था? नारी को पुरुष की संपति समझना, उसे क्रीतदासी कहना, उसे वैश्या जैसे शब्द कह क़र राज्यसभा में अपमानित करना अत्यन्त ही असमाजिक कुकृत्य था। जब

महारानी द्रौपदी ने अग्रजनों के समक्ष यह प्रश्न रखा कि क्या उसे जुये पर दाँव लगाना धर्मानुकूल है और जो स्वयं अपने को हार गया वह दूसरे को दाँव पर कैसे लगा सकता है? महात्मा भीष्म, महाराजा धृतराष्ट्र, गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य जैसे गुरुजनों के पास इसका कोई उत्तर नहीं था और न ही किसी ने उस दुष्कर्म का विरोध किया। दूसरी तरफ धर्मराज युधिष्ठिर, जैसे धर्मज्ञ व्यक्ति का द्युत क्रीडा में भाग लेना और स्वयं अपने आप को हार जाने के बाद अपने भाईयों को दाँव पर लगाना उन्हें भी हार जाने पर अपनी पत्नी द्रौपदी को दाँव पर लगाना। जैसे छोटे भाई और पत्नी कोई वस्तु हैं उनकी संपति हैं। इस घटना पर जब गौर करते हैं तो सन्देह होता है युधिष्ठिर को धर्मराज कहें, राजनीतिज्ञ कहें या क्या कहें। भीष्म पितामह, महाराजा धृतराष्ट्र, गुरूद्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि दुर्योधन - शकुनि और दुशासन की कूट मंत्रणा से अवगत थे, सिर्फ महात्मा विदुर जैसे नीति निपुण मंत्री ने ही द्यूत क्रीडा जैसे दुष्कृत्व को रोकने का प्रयास किया परन्तु उनकी नहीं चली। किसी ने उनका साथ भी नहीं दिया, सब मौन धारण करके बैठे रहे।

महारानी राजमाता गान्धारी भी इन सारी घटनाओं की साक्षी थी, परन्तु वह भी अपनी आँखों पर पट्टी बांधकर अन्धी राज्य सभा का एक भाग बन कर रह गई थी। द्रौपदी की दर्द भरी न्याय की भीख माँगने पर उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला, राज्य सभा में हो रहे अन्याय पर विद्रोह नहीं कर सकी। काश गान्धारी आँखों पर पट्टी नहीं बान्ध कर अन्धे पति की आँखे बन जाती, तो एक स्त्री के नाते अपनी पुत्र वधु को निर्वस्त्र किए जाने का विरोध करती। पुत्र मोह और धन वैभव के मोह से

ग्रसित पति की अन्तरात्मा को जगाती, उसके लड़खड़ाते कदमों के लिए अपने हाथों की वैसाखी बनती। परन्तु महारानी गान्धारी ने अपनी भी आँखे बन्द कर अपने नेत्र विहीन पति के जीवन को और कुंठित कर दिया। राज्य सभा में ऐसा लग रहा था, अन्धे महाराजा की अन्धी सभा में सभी महारथी सभासद अपनी थोथी प्रतिज्ञा या धर्माचारण में बन्धे, सभा में हो रहे अन्याय पर आँख, कान बंद कर बैठे हुए थे। पितामह भीष्म अपनी राजभक्ति की शपथ से बंधे हुए थे, गुरु द्रोणाचार्य, कुलगुरु कृपाचार्य, राजा का नमक खाकर, उनका विरोध, धर्मविरूद्ध मानकर शांत बैठे हुए थे। महारानी गान्धारी पतिव्रता धर्म से बंधी हुई, पति की इच्छा के विरूद्ध कैसे आवाज निकाल सकती थी। युवराज दुर्योधन की राज्य आज्ञा ही महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा मानी जा रही थी। उस समय की वह राज्य सभा, राज्य सभा नहीं एक दिखावा थी, दुर्योधन का निर्णय ही निर्णय था। उसका विरोध करना, राज विरोध मानकर सारे सभासद शांत भाव से बैठे तमाशा देख रहे थे।

पांडव सब कुछ हार चुके थे, अंत में बीच बचाव करके यह निर्णय हुआ कि पाँचों पांडव द्रौपदी सहित 12 वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास की सजा भुगतें, इस एक वर्ष के अज्ञातवास की अवधि में किसी ने उन्हें पहचान लिया तो फिर 12 वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास भुगतना होगा, यह कार्य ऐसे ही चलता रहेगा। अगर वे अज्ञातवास में सफल हो गये तो दुर्योधन उन्हें उनका राज्य वापस लौटा देगा। पांडवो ने अपनी पूरी सजा भुगतकर जब अपने राज्य की मांग की तो दुर्योधन ने राज्य लौटाने से इन्कार कर दिया। श्री कृष्ण स्वयं पांडव

की तरफ से दूत बनकर आये थे। उनकी मध्यस्थता पर कि उन्हें पांच गांव हीं दे देवें, जिससे वे अपना जीवन यापन कर सकें, पर इनकी कोई सुनवाई नहीं हुई। जब कि पांडवों के चाचा धृतराष्ट्र गद्दी पर विराजमान थे। परिवार के अग्रज पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, कुलगुरु कृपाचार्य, महारानी गांधारी भी झरोखे में बैठी सब सुन रही थीं। युद्ध अनिवार्य हो गया, जिसमें सभी गुरुजन और पितामह भीष्म ने अन्यायी दुर्योधन का साथ दिया।

अन्त में यह द्रौपदी चीर हरण ही "महाभारत" जैसे विनाशकारी महायुद्ध का कारण बना। दुर्योधन का अहंकार, उसकी गर्वोक्ति थी, कि उसके साथ गुरु द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, महारथी कर्ण, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शल्य जैसे महान योद्धा हैं, युद्ध में उसकी ही विजय होगी। उसने अपनी हठपूर्ण तर्क से, भगवान कृष्ण द्वारा अंत में सिर्फ पाँच गाँव पांडवों को देकर समझौता करने के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया था। पूरी सभा में यह वार्तालाप चल रहा था, परन्तु महाराज धृतराष्ट्र एवं बैठे हुए सब अग्रजनों में किसी ने भी दुर्योधन की इस हठधर्मी एवं अनीतिपूर्ण व्यवहार का विरोध नहीं किया। ऐसा लगता था कि सभी की इच्छा थी कि युद्ध हो, और वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकें। महारानी द्रौपदी भी प्रतिशोध की भावना से संकल्प लेती है कि दुःशासन के खून से अपने बाल धोऊँ, दुर्योधन जिसने अपने बड़े भाई की पत्नी को अपनी जंघा पर बैठने की कहकर खूब हँसा था युद्ध में मेरे पाँचों पति में से कोई एक उसकी जंघा को चकनाचूर करे। युद्ध हुआ, उसका संकल्प भी पूरा हुआ परन्तु कितने बलिदान और महान विध्वंस की कीमत चुका कर हुआ।

उसके पिता राजा द्रुपद महान, वीर भाई धृष्टद्युम्न और पाँचों महारथी पुत्र एवं वीर पुत्र अभिमन्यु आदि सभी युद्ध में मारे गये। शेष कौन बचे, पाँचों पांडु पुत्र और द्रौपदी। दूसरे पक्ष में दुर्योधन सहित उसका सारा परिवार, सारे सगे संबंधी, एक से एक बड़े योद्धा इस पारिवारिक कलह के इस महान युद्ध में वीर गति को प्राप्त हुए। क्या इस महायुद्ध को "धर्मयुद्ध" कहें? और कैसे कहें कि धर्म की स्थापना के लिए इतना बडा संग्राम हुआ जो भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। लाखों नारियाँ विधवा होकर क्रंदन - रुदन करती हुई तड़प रही होंगी, लाखों बच्चे पिता के प्यार एवं संरक्षण से वंचित होकर बिलखते रहे होगें। उस स्थान को जहाँ यह भयंकर युद्ध हुआ क्या उसे "धर्मक्षेत्र" कहा जाय? जहाँ लाखों लाशें बिखरी पड़ी थीं, धरती रक्तरंजित हो गई थी। ऐसे भयानक दृश्य को देखकर अम्बर भी फूट-फूटकर रोया होगा। इसे धर्मयुद्ध भी कहना कहाँ तक ठीक होगा, जिसमें सारे महायोद्धा छल, प्रपंच से ही मारे गये थे, जैसे भीष्म पितामह के सामने शिखण्डी को खड़ा करके उसकी आड़ में उन्हें तीरों से बींध दिया था। गुरू द्रोणाचार्य को धर्मराज युधिष्ठर के अर्द्धसत्य के बल पर मारा गया इसी तरह महारथी कर्ण, महाबली जयद्रथ, महायोद्धा दुर्योधन को, धर्म युद्ध के नियमों का उल्लंघन करके ही उनका संहार हुआ। दूसरे पक्ष में जब गुरु द्रोणाचार्य द्वारा निर्मित चक्रव्यूह को विध्वंश करने के लिए वीर बालक महान योद्धा अभिमन्यु रण मैदान में कूद पड़ा था तो उसने सारे योद्धाओं के छक्के छुड़ा दिये थे, सेना की बुरी तरह क्षति होती देखकर सात महारथी भीष्म, द्रोणाचार्य, दुर्योधन, कृतवर्मा, कर्ण, दुःशासन आदि ने उस वीर बालक को चारों तरफ से घेर लिया था। वह वीर बालक अकेला इन महारथियों से लड़ता रहा, कईयों को

घायल कर दिया, परन्तु अंत में वीरगति को प्राप्त हुआ। उसमें से किसी भी एक योद्धा की उस वीर बालक से लड़ने की क्षमता नहीं थी। इस महायुद्ध में दोनो तरफ महापुरुष थे, फिर भी युद्ध के दौरान उन कानूनों पर कोई अंकुश नहीं था। युद्ध के नियम, कानून बनाये गये थे, युद्ध के दौरान उन कानूनों को अमल में लाना तय किया गया था। दोनो तरफ पहुँचे हुए नीति निपुण लोग थे। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण थे, परन्तु सबके सब नियमों को, युद्ध के दौरान अपनी अपनी जीत के लिए, तोड़ दिया गया थ । क्या यह धर्मयुद्ध माना जायेगा?

यह ठीक है भीष्म पितामह, गुरू द्रोणाचार्य, कर्ण, जयद्रथ आदि महारथियों को हटाये बिना पाण्डवों को विजय की प्राप्ति होनी असम्भव थी। भगवान श्रीकृष्ण का चिंतन, उनके भाव, उस समय यही थे कि वास्तविक सत्य वही है और वही धर्मानुकूल भी है जिससे लोक मंगल हो, लोक कल्याण हो।

युद्ध के मैदान में जब युधिष्ठिर ने दुर्योधन का साथ देने वाले राजाओं में अपने निकट संबंधी मामा "शल्य" को देखा तो बहुत आश्चर्य में पड़ गये। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि मामा "शल्य" उनके विरुद्ध हथियार उठायेगें, उस युग में सारथ विद्या में भगवान कृष्ण और "शल्य" का कोई मुकाबला नहीं कर सकते थे। महायुद्ध में सारथी की बहुत बडी भूमिका होती थी। महाराज शल्य-कर्ण जैसे महारथी के सारथी बने थे। अनुमान है मामा शल्य का अपने भान्जों के विरूद्ध, कौरवों के पक्ष में लड़ना, मात्र उनकी अवसरवादिता थी, उन्होंने इसी में अपना लाभ समझा होगा, उन्हें यह विश्वास हो गया होगा कि भीष्म पितामह

- द्रोणाचार्य और कर्ण जैसे महान योद्धा महारथी के सामने पांडु पुत्र योद्धा ठहर नहीं सकेगें। उनकी हार अवश्यमेव होगी। परन्तु महराजा शल्य सामने खडे अपने परिवार के योद्धाओं की तरफ सिर ऊँचा कर आँखे नहीं मिला पा रहे थे। वैसे दुर्योधन के पक्ष में लड़ने वाले सभी वीरों के मन में यह धारणा तो बनी हुई थी कि वे स्वार्थवश या हस्तिनापुर राज्य से बंधे हेने के कारण मजबूर होकर, अधर्म के पक्ष में लड़ रहे हैं।

महारथी गांधारी जानती थी कि जिधर धर्म है, उधर ही कृष्ण हैं और जिधर कृष्ण हैं उधर ही विजय है, परन्तु अपने पति महाराजा धृतराष्ट्र और बड़े पुत्र दुर्योधन की महत्वकांक्षाओं के सामने विवश हो गई थीं। दुर्योधन के साथ 11 अक्षौहणी सेना थी। भीष्म, द्रोण, कर्ण अश्वत्थामा, शल्य जैसे महारथी योद्धा उसके संरक्षक थे परन्तु फिर भी उसे पराजित होना पड़ा!

महाभारत युद्ध कौरव - पांडवों के बीच हुआ था, ऐसी मान्यता तो सर्व सामान्य है, परन्तु पाण्डव भी कुरू राजा के वंश के थे, तो वे भी कौरव ही कहे चायेगें। यह मानना चाहिए कि यह युद्ध धृतराष्ट्र और पांडव पुत्रों के बीच हुआ था।

धर्मराज युधिष्ठिर युद्ध नही चाहते थे, तभी तो संधि के लिए भगवान श्रीकृष्ण को भेजा था और तब दुर्योधन ने धृष्टता से कह दिया था, "सुई के अग्रभाग जितनी भी भूमि बिना युद्ध के नही मिलेगी। इसके बाद युद्ध तो सम्भावी हो गया था।

पार्थसारथी बनकर कृष्ण, अर्जुन की इच्छानुसार रथ, युद्धभूमि में खड़ी सेना और महारथियों के सम्मुख ले गये। (शरीर - रथ है, इन्द्रियाँ

- अश्व हैं, मन बागडोर और बुद्धि विवेक - सारथी)। इस तरह इस युद्ध में कृष्ण अर्जुन के सारथी बनकर सारे युद्ध का संचालन कर रहे थे। अपने सामने खड़ी दुर्योधन की सेना में अपने स्वजनों को देखकर युद्धोत्साह से भरा वीर अर्जुन विकल हो गया, अंग शिथिल हो गये, गांडीव हाथ से सरकने लगा। वह अत्यंत करुणा से अक्रान्त हो, व्याकुल होकर कृष्ण को कहने लगा,क्या मैं अपने गुरूजनों को बाँधवों को इस युद्ध में मार कर शांति का जीवन जी सकूंगा? क्या मेरे हाथ गुरू द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह के प्राण के लिए उठ सकेगें? इस गुरू द्रोण ने जितना युद्ध विद्या का दान मुझे दिया है, उतना अपने पुत्र अश्वत्थामा को भी नही दिया है। बाल्यावस्था में पिता का प्यार तो हमें मिला नहीं, पितामह ने ही उसकी पूर्ति की। इनकी गोद में ही खेला, क्या आज मैं इन्हें अपना दुश्मन मानकर इनके ऊपर हथियार चला सकूँगा? कुलगुरू कृपाचार्य, मामा शल्य, पितृतुल्य भूरिश्रवा, सोमदत, प्रिय सखा अश्वत्थामा, दुर्योधन आदि भाइयों को जिनके साथ बचपन से साथ-साथ हम बड़े हुए, साथ-साथ शिक्षा प्राप्त की, इनको मारकर पाया हुआ राज्य मुझे नहीं चाहिए। मैं ऐसा पाप कर्म नही कर सकूँगा।

अर्जुन की ऐसी हालत देखकर भगवान श्रीकृष्ण ने उसे ढाँढस बंधाते हुए उसमें आई दुर्बलता को निरस्त किया। अब सवाल उठता है कि ऐसा समय जब दोनों तरफ की सेना और महारथी योद्धा, युद्ध के लिए तैयार खड़े थे, इतना समय कहाँ होगा कि 18 अध्याय यानी 700 श्लोक श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहे होगें । उस समय तो अर्जुन को कर्मयोग के बारे में ही ज्ञान दिया होगा, कि एक क्षत्रिय के नाते तुम्हारा क्या

कर्तव्य है, यही धर्म है। हार-जीत के फल की कामना किए बिना तुम अनासक्त भाव से युद्ध करो। भक्ति योग, ज्ञान योग की चर्चा का तो वह उपयुक्त समय नहीं था। श्रीकृष्ण अर्जुन के गहरे मित्र थे। यह ज्ञान अर्जुन को इसके पहले शायद कई बार में दिया होगा। बाद में गीता ग्रंथ का नाम देकर उनके सारे विचार जोड़ दिये गये होंगे। यह युद्ध दुर्योधन और उनके सहायक राजाओं की सारी 11 अक्षौहिणि सेना दूसरी तरफ पाण्डु पुत्रों की तरफ से द्रुपद एवं विराट के राजा की 7 अक्षौहिणि सेना के साथ नही लड़कर, पाण्डु पुत्र एवं धृतराष्ट्र पुत्र लड़कर हार-जीत का फैसला कर लेते तो, इतने योद्धा, इतने महारथी एवं सैनिकों का संहार नही होता। इस युद्ध में सिवाय नुकसान के किसी को कुछ भी लाभ नही मिला। इस महाभारत युद्ध में जो जीते वे भी हर दृष्टि से कमजोर हो गये थे। दूसरी तरफ महाभारत युद्ध के बाद श्रीकृष्ण के सखा सात्यकी जो पांडवों के पक्ष में लड़े थे और यादव साम्राज्य की अक्षौहिणी नारायणी सेना के सेनापति अपनी सेना कौरवों के पक्ष में लड़े थे। एक दिन प्रभास नगर में, जो द्वारका का प्रसिद्ध तीर्थ था, सभी यादव इकट्ठे हुए और समुद्र के किनारे बैठे नाच-रंग का आनन्द ले रहे थे। सोमपान का दौर चल रहा था। इतने में सात्यकी ने कृतवर्मा पर यह कहकर व्यंग किया, "रात के समय सोते हुए बालकों का संहार करने वाले योद्धा के यह साथी रहे हैं। प्रद्युम्न ने इस कटाक्ष को दोहरा दिया। पापी दुर्योधन का साथ देने वाले योद्धा हैं। कृतवर्मा ने यह सुनकर क्रोधित होकर कहा, "योगावस्थित द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह और कर्ण को धोखे से मारने वाले वीरों का साथ देने वाले तुम हो। इस वाक्य युद्ध पर दो पक्ष हो गये। प्रद्युम्न ने सात्यकी का पक्ष लिया दम के दम मे दोनों दलों की तलवारे निकल पड़ीं और एक दूसरे

पर टूट पड़े। इस घरेलू लड़ाई में यादव कुल के योद्धाओ का नाश हो गया।

कहते हैं: इस कुरूक्षेत्र के महायुद्ध एवं यादवों के फूट के कारण युद्ध हुआ, इसके बाद सैकड़ों सालों तक भारत उठ नहीं सका, इतना निर्बल हो गया था।

महाभारत युद्ध समाप्त हुआ, धृतराष्ट्र के सारे पुत्र मारे गये। दुर्योधन भागकर सरोवर में छिप गया, उनका एक पुत्र युयुत्सु ही बचा जो युद्ध आरम्भ होने के पहले ही पाण्डवों की और चला गया था। युधिष्ठर ने कौरव कुल की स्त्रियों को दुःखी निःसहाय देखकर युयुत्सु के साथ रथों पर बैठाकर उनकी भौजाइयों को सम्मान पूर्वक राज प्रासाद पहुँचाया।

बाण शय्या पर लेटे भीष्म पितामह जब अपना अन्तिम धर्मोपदेश युधिष्ठिर और उनके चार भाइयों और द्रौपदी को धर्म राज्य संचालन के बारे में ज्ञान दे रहे थे। अधर्म करना पाप है, यही नहीं कहीं अधर्म हो रहा हो, वहाँ मौन रहना भी पाप है। क्योंकि उसका अर्थ है कि आप उस अधर्म का समर्थन कर रहे हो। इस बात पर द्रौपदी मुस्कराई, उसे मुस्कराते देखकर भीष्म पितामह कहने लगे - बेटी! तुम क्यों मुस्करा रही हो, क्या मेरी बात तुम्हें ठीक नही लग रही है? द्रौपदी ने जवाब देने से टालने की बहुत कोशिश की परन्तु जब पितामह जोर देते ही रहे तो द्रौपदी ने कहा पितामह मनुष्य की करनी और कथनी में भेद नहीं होना चाहिए। जब भरी राजसभा में मेरे साथ अन्याय हो रहा था, मेरी दुर्गति पर आपने कोई विरोध नहीं किया। इस प्रश्न का पितामह के पास कोई उत्तर नहीं था, उन्होंने कहा, हे पुत्री! दुरात्मा दुर्योधन का अन्न खाने से मेरी बुद्धि उस

समय कलुषित हो गई थी। बस्तुतः भीष्म की अवस्था बाणप्रस्थ लेने की थी। वहीं पर कन्द-मूल आदि से अपना पेट भरते हुए अपने जीवन का अन्तिम समय बिताते न मालूम क्यों वे दुर्योधन के साथ जोंक की तरह चिपके रहे और युद्ध में भी उस पापी का ही साथ दिया।

पाण्डव पाँचो भाई को इस महायुद्ध से मन में ग्लानि हो रही थी कि आपस में भाई-भाई की लड़ाई में सारा परिवार मारा गया। उनके द्वारा ही दादा भीष्म पितामह, गुरू द्रोणाचार्य, कुळ गुरू कृपाचार्य मारे गये। इससे उन्होंने कुछ दिन राज्य करके तीर्थ यात्रा पर जाने का निर्णय लिया। श्री कृष्ण से मिलने द्वारका आये और साथ चलने के लिए निवेदन किया। श्री कृष्ण ने स्वयं जाने के लिए तो आपत्ति प्रकट की, परन्तु उन्हें तुम्बी दी कि मेरी जगह इसे ले जाओ, जहाँ की पवित्र नदी में या तालाब में स्नान करो मेरी इस तुम्बी को भी स्नान करा देना, जहाँ भगवान के दर्शन करो, वहाँ इसे भी दर्शन करा देना। कुछ समय बाद सारे तीर्थ की यात्रा करके पाण्डव लौट कर श्री कृष्ण के पास आये। श्री कृष्ण ने बड़ी प्रसन्नता से अपनी तुम्बी वापिस ली और अपने सेवक से तुम्बी को तोड़कर चूर्ण बनाकर लाने को कहा। सेवक जब तुम्बी का चूर्ण बनाकर लेकर आया तो उन्होंने प्रसाद के रूप में उस चूर्ण को सबको दिया कि सभी प्रसाद पा लेवें। पाँचों पाण्डव, द्रौपदी, सुभद्रा ने तुम्बी चूर्ण मुख में रखते ही थू थू करके उसको थूक दिया कि वहुत खारा है, इसको खा नहीं सकते। कृष्ण ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, इतने पवित्र नदी-तालाब में स्नान करने, भगवान का दर्शन करने से तो यह पवित्र हो गई थी, अब इसमें खारापन कैसे रह सकता है। पाण्डवों ने कहा, भगवान

यह तो उसका गुण धर्म है, तुम्बी तो खारी ही रहेगी। श्री कृष्ण खूब हँसे और कहा-पाण्डव! जब तुम्बी को जगह-जगह की पवित्र नदी, तालाबो में स्नान करने से शरीर के मैल तो धुल गये होंगे परन्तु मन के मैल, पाप संस्कार कैसे धूल जायेगें, फिर भगवान का दर्शन करने की बात, उसके लिए जगह जगह फिरने की क्या आवश्यकता है? ईश्वर तो प्रत्येक के मन में विराजमान है। उसको पाने उसका दर्शन करने के लिए अंतर्मुखी होकर एकान्त स्थान, एकाग्र मन से बराबर अभ्यास, निरन्तर ध्यान तपस्या करो, मन के सारे मैल धुल जायेगें। मन निर्मल, शुद्ध हो जायेगा, भव बंधन से मुक्त हो जाओगे। पाण्डवों को यह ज्ञान मिलते ही वे अपने विशाल राज्य साम्राज्य को अपने पौत्र अभिमन्यु-उत्तरा के पुत्र परीक्षित को सौंपकर हिमालय की तपोभूमि में तपस्या करने चले गये। द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को तो गुरू द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने रात्रि में अपने शिविर में सोते हुए मार दिया था। परिवार में उत्तरा का पुत्र ही बचा था। सम्राट परीक्षित ने अपने विशाल साम्राज्य का बहुत मुस्तैदी से संचालन किया। प्रजा बहुत प्रसन्न और सुखी थी। एक बार एक ऋषि पुत्र उन पर बहुत क्रोधित होकर उन्हें श्राप दिया कि उनकी सर्प दंश से शीघ्र मृत्यु हो जायेगी। इस तरह उनकी मृत्यु सर्प डँसने से हो गई। ऋषिमुनि जो तपस्या में लीन रहते हैं, किसी के द्वारा उनके अनचाही बात पर या कार्य पर क्रोधित हो जाना और उस व्यक्ति को श्राप दे देना, कुछ अजीब सा लगता है। वह तपस्या ही क्या हुई अगर उससे मन निर्मल नही हुआ, विकारों का क्षय नही हुआ। महान ऋषि दुर्वासा को तो कहते हैं, इतने क्रोधित थे, कि लोग उनसे मिलने से कतराते थे, कहीं जरा सी भूल पर

श्राप नही दे देवे। पौराणिक कथा के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का नाम स्मरण कर कोई भी तपस्या करता था तो वे खुश होकर उनको मन चाहा वरदान देते थे। इन्हें भगवान कहते हैं त्रिलोकज्ञ हैं, अवश्य जानते ही होगें कि अपने किस उद्देश्य से तपस्या की है। दिति एवं ऋषि कश्यप के पुत्र दैत्यराज बजरंग, उसने ब्रह्मा से अतुल शक्तिशाली "दैत्य सेना बल" वरदान पाकर, इन्द्रासन प्राप्ति करने के लिए देवराज इन्द्र पर हमला कर दिया और सफल रहा। दैत्यराज ताड़कासुर ने ब्रह्मा का वरदान पाकर कैलाश पर हमला कर दिया, उसका पुत्र संहारकासुर भी वरदान पाकर कैलाश को जीत लिया, अंत में गणेशजी द्वारा मारा गया। उसे बाद में दैत्यगुरू महान ऋषि शुक्राचार्य ने अपनी संजीवनी शक्ति से पुनर्जीवित किया। ताड़कासुर को त्रिलोक विजय का वरदान मिला और समस्त लोकों पर एवं इन्द्रलोक पर अधिकार किया। हिरण्यकश्यप, हिरण्यकक्ष रावण, मेघनाद आदि ने वरदान की शक्ति पाकर ही इतने शक्तिशाली एवं अत्यंत शक्तिशाली शस्त्र प्राप्त किया और सारे भारत में तहलका मचा दिया।

सम्राट परीक्षित की सर्प दंश से मृत्यु हुई । यह देखकर उनके पुत्र जनमेजय ने राज्यभार संभाला। उसने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए सर्प यज्ञ किया जिसमें सर्पों की आहुति दी गई। यहाँ से द्वापर युग का अंत होता है, और कलियुग का प्रारम्भ होता है।

मुझे लगता है-सतयुग काल में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव एवं अन्य देवता ऋषि, महाऋषियों के कामवासना के बारे में जो कथाएँ, पुराणों में

लिखी गई हैं, उसका उद्‌गम वाम युग में हुआ है। उस युग मं लाग, भाग कामवासना को बुरा नही मानते थे। यह भारतवर्ष तो आदिकाल से तपस्या का देश रहा। इसकी शुरूआत अपने विकारों की उदीर्ण, अपने कर्म संस्कारों को क्षय करना और अपने मन को शुद्ध निर्मल बनाकर जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो जाना था। बाद में इसकी निर्मलता पर आंच आने लगी। लोग सिद्धि, वरदान पाने के लिए तपस्या करने लगे। वामयुग आते-आते यह बिल्कुल मलीन हो गई। हमारे पंडित, पुरोहित लोगों में पंच मकार की साधना का प्रचार प्रसार करने लगे और यह ध्यान तपस्या तो शीलभंग की तपस्या थी। "पंच मकार" याने 1. मांस, 2. मद्य, 3. मैथुन, 4. मीन, 5. मुद्रा । उनका इसके लिए कहना था कि मांस खाने से तुम्हारी शक्ति सेहत बढ़ेगी, तपस्या करने में सहायता मिलेगी। मदय पीने से मन टिकेगा, एकाग्र तपस्या गहरी होगी। मैथुन करते हुए ध्यान करना, बहुत ऊँची अवस्था में पहुँचने का सही साधन हैं....।

यह "वामयुग" सिर्फ भारत में ही नहीं, पश्चिम की ग्रीक या मिश्री संस्कृतियों अथवा पूर्व की चीनी संस्कृति में भी काम भोग को आवश्यक, आनन्ददायक तथा कलात्मक विद्या मानकर उसकी अभ्यर्थना की। ऐसे युग में भोग वासना को सही मार्ग बताने के लिए उस युग के विद्वान पंडित पुरोहितों ने पुराणों में ऐसी कथायें जोड़ दी होगीं ।

कलियुग, जिसकी लोग आलोचना करते हैं, सतयुग, त्रेता और द्वापर युग से किसी अंश में भिन्न नही है। व्यक्ति अच्छे और बुरे सभी युग में थे और आज के कलयुग में भी हुए हैं और वर्तमान में हैं। गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं

यदा-यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं जन्म लेता हूँ, और पृथ्वी का भार उतारता हूँ।

श्रीकृष्ण, बलराम, माता गन्धारी, विदुरजी, माता कुन्ती को छोड़कर किसी का जीवन आप्त पुरुषों के सदृश नही है। श्रीकृष्ण जी का जीवन धर्ममय था। महाभारत युद्ध जीतने के लिए दुष्ट दुर्योधन की जीत न हो जाये, उन्हें धर्म युद्ध के विपरीत एक दो बार पांडवों को सलाह मशविरा देनी पड़ी। अन्यथा उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र धर्म पुरूषों के सदृश्य रहा। ऋषि व्यास लिखित श्रीमद भागवत में उनके युवाकाल, वृन्दावन के आवास के अवसर पर गोपियों की लीला के साथ जोड़कर दशम् स्कन्ध गन्दा-सा बना दिया है। उनका शिक्षा काल वृन्दावन में ही बीता। बाल्यकाल में ही वृषासुर (पागल बैल), हयासुर (जंगली घोड़े) का वध किया। ऐसा लगता है गोकुल में जंगली भेड़ियों का झुंड आ गया था, उससे ग्वालों की बहुत हानि हो रही थी। कृष्ण ने गोपों को समझाकर गोकुल छुड़वा कर उनहें वृन्दावन में जा बसाया। जहाँ वे अधिक सुरक्षित थे। गोवर्धन पर्वत पर गोपों की बस्ती बसाने और सप्ताह भर रात-दिन जागकर गोप-गोपिकाओं को बाढ़ से बचाने के लिए, मानो गोवर्धन पर्वत को थामे रहने का कल्पित कविता पूर्ण वृतांत भागवत कथा में दिया गया है। गोवर्धन पर्वत तो पृथ्वी का एक भाग है, उसे हथेली पर कोई कैसे उठा सकता है। कृष्ण ने सभी गोपजनों को समझाया होगा, हमारे देवता

तो ये गायें हैं या गोवर्धन पर्वत। गोवर्धन पर घास होती है, उसे गायें खाती हैं और दूध देती हैं। वहाँ चरती हैं तो वहीं गोबर गिरता है। सूखे पत्ते और गोबर मिलकर बरसात में हमारे खेतों में आता है, जो हमारे खेतों को खाद का काम देता है। खूब अच्छी हरी-भरी खेती होती है, इससे हमारा गुजारा चलता है। इसलिए हमारे देवता तो गोवर्धन पहाड़ है और गायें हैं।

श्रीकृष्ण के बारे में भागवत पुराण में अनेक रानियों का जिक्र आता है। वस्तुत कृष्ण की केवल दो रानियाँ थी। रूक्मिणी का कृष्ण के साथ प्रेम विवाह था, रूक्मिणी कृष्ण के गुणों पर मुग्ध थीं और उन्हीं के साथ विवाह करना चाहती थीं। उनके पिता विदर्भ के राजा भीष्मक ने, जरासध के कहने से अपनी लड़की का सम्बन्ध शिशुपाल से करना निश्चित कर लिया था। विवाहोत्सव पर मगध साम्राज्य के सारे राजा निमंत्रित हुए। कृष्ण ने जब यह सुना - उनसे प्यार करने वाली रूक्मिणी का, उनकी इच्छा के ही रहेगी और उनकी संतान वहीं के राजसिंहासन की अधिकारिणी होगी। अर्थात यह विवाह मणिपुर के राजवंश को चलाने के लिए ही हुआ था। बाद में चित्रांगदा का पुत्र वभ्रुवाहन वहाँ का राजा हुआ।

श्रीकृष्ण का बाल चरित्र ही पुराणों का मुख्य विषय रहा है, वे बाल्यकाल की साधारण घटनाओं को भी चमत्कारों में जोड़कर, उनके प्रौढ़ अवस्था के उदात्त मानव आदर्श को सम्मुख न रखकर देव-लीलाओं की अलौकिक कल्पनाओं को आकाश में, बिना पंख के उड़ा ले गये। पुराणों का आधार, महाभारतोत्तर काल की जन श्रुतियाँ है। जनश्रुतियों में

विभिन्नता होना स्वाभाविक था। वही विभिन्नता विभिन्न पुराणों के वृतांत में पाई जाती है। जिन पुराणों में निर्मूल, अस्वाभाविक और अलौकिक बातें जितनी अधिक मिल गई हैं, वे उतनी ही नयी हैं। आलोचना करने योग्य ग्रंथ, उनका क्रम इस प्रकार है।

1. महाभारत का पहला तह
2. विष्णु पुराण का पांचवाँ अंग
3. हरिवंश
4. श्रीमद भागवत ।

※ ※ ※ ※ ※

भगवान श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के बारे में पुराण में कथा आती है

बाणासुर की बेटी उषा बहुत सुन्दर थी। मात-पिता की बहुत लाड़ली थी। एक दिन स्वप्न में उसने एक अलौकिक सौन्दर्य से दीप्तिमान एक युवक को देखा। उसे देख कर वह अपनी सुध बिसार बैठी और निन्द्रा खुलने पर उसके प्रेम में व्याकुल हो कर तड़पने लगी। उसकी परम प्रिय सखी चित्रलेखा उसकी तड़पन देख कर बहुत दुःखी हुई। अपनी सखी को इस पीड़ा से मुक्ति दिलाने के लिए वह योगिनी के वेष में द्वारिका पहुँची। अपने योग बल से अनिरुद्ध को लेकर लौटी। उषा अपने स्वप्न पुरूष को प्रत्यक्ष देख कर आत्म विभोर हो गई। अनिरुद्ध भी उषा पर मोहित हो गया। दोनों आनंदमग्न होकर उषा के महल में प्रणय-लीला में लीन हो गये। लुक-छिप कर चलने वाली प्रणयलीला छिपी न रह सकी। किसी ईर्ष्यालु ने बाणासुर को सूचित कर दिया। बाणासुर अंगारे की तरह जल उठा। उसने उस उद्दण्ड युवक को सेना भेज कर गिरफ्तार करने का आदेश दिया। अनिरुद्ध महान योद्धा था, उसने हमले के लिए आई सेना

को हताहत कर डाला। बाणासुर स्वयं भी उसे युद्ध में पराजित न कर सका। अंत में उसने अनिरूद्ध को नागपाश में बांध दिया। यह समाचार चित्रलेखा ने द्वारिका में कृष्ण को पहुंचाया। रूक्मिणी विलाप करने लगीं। कृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न गरूड़ पर सवार होकर वाणासुर की राजधानी आये, युद्ध छिड़ गया। वाणासुर शिव भक्त था, उसकी रक्षा के लिए शिव और कार्तिकेय भी सम्मिलित हुए। श्री कृष्ण को बाणासुर का बध करने के लिए सुदर्शन चक्र चलाना पड़ा। शिव ने श्री कृष्ण को समझा कर वाणासुर की रक्षा की। वाणासुर ने उषा का विवाह अनिरुद्ध से कर दिया। हर्षपूर्वक सब गले मिले और अपने पौत्र और पौत्रवधु को लेकर श्रीकृष्ण द्वारिका लौटे।

कहते हैं कृष्ण के दर्शन करने मात्र से मुक्ति मिल जाती है तो पांडव हिमालय में तपस्या करने क्यों गये और कहते हैं वही तपस्या करते-करते गल गये। महाभारत युद्ध में दोनों तरफ की विशाल सेना कौरव और पांडवों का परिवार था। कृष्ण, अर्जुन का सारथी था, सभी कृष्ण को देख रहे थे, क्या उन सबको मुक्ति मिल गई। कृष्ण के परम मित्र ऊधो ने घोर तपस्या की - अगर श्री कृष्ण के दर्शन से ही मुक्ति मिल जाती तो वे तपस्या करने क्यों जाते। गीता का पाठ कर लेने से भी मुक्ति नहीं मिलती। श्रीकृष्ण के बताये मार्ग पर चलें, उनके दिये ज्ञान को जीवन में उतारें तो मुक्ति मिलेगी। कोई बड़े-बड़े शास्त्र पढे, कोई गुरूग्रंथ साहिब को पढ़े, कोई कुरान पढ़े, कोई बाईबल पढ़े - पढने मात्र से किसी को सें कोई लाभ नहीं मिला। इन महान ग्रंथों में से किसी को भी पढ़ो उसका चिंतन मनन करो,उससे मिले ज्ञान के अनुसार अपने जीवन को बदलो, उनके बताये मार्ग पर चलो, तो अवश्य लाभ होगा। हम ही अपने भाग्य विधाता हैं, जैसी करनी करेंगे, वैसा ही फल मिलेगा।

भगवान गौतम बुद्ध

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

महान विभूति भगवान गौतम बुद्ध का जन्म ईस से 563 वर्ष पूर्व कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी नामक स्थान पर एक बाग में, वृक्ष के तले हुआ। उनके बचपन का नाम सिद्धार्थ था। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य वंशीय थे और हिमालय की तराई में नेपाल की सीमा पर एक बहुत बड़े गणराज्य के प्रमुख थे। सिद्धार्थ के जन्म के कुछ दिनों बाद उनकी माता महामाया का स्वर्गवास हो गया था। इसलिए उनका पालन-पोषण उनकी सौतेली माता प्रजापति गौतमी ने किया था।

सिद्धार्थ के जन्म के समय आशित मुनि ने भविष्यवाणी की थी कि यह बालक घरबार छोड़कर एक महान योगी बनेगा। यह सुनकर उनके पिता बहुत चिन्तित हुए। उन्होने सिद्धार्थ का मन सांसारिक सुखों में लगाने के लिए, उनका विवाह यशोधरा नामक एक परम सुन्दरी से करा दिया और उनके भोग विलास की सब वस्तुएँ जुटाकर उन्हे महल में ही रहने

दिया। कुछ समय बाद सिद्धार्थ के घर एक बेटे ने जन्म लिया, जिसका नाम राहुल रखा गया।

सिद्धार्थ एक दिन प्रातः भ्रमण के लिए निकले, उन्होंने रास्ते में एक निर्बल व्यक्ति, एक रोगी, एक बृद्ध व्यक्ति को देखा, और कुछ दूर जाने के बाद कुछ व्यक्तियों को एक मृत व्यक्ति को अर्थी पर उठाकर ले जाते देखा। यह चारों दृश्य देखकर उनके मन में उथल-पुथल होने लगा। सिद्धार्थ को मनुष्य की इन अवस्थाओं का कोई ज्ञान नहीं था। उन्होंने अपने सारथी छेदक से मनुष्य की इन अवस्थाओं के बारे में पूछा। छेदक ने कहा, "हे स्वामी! संसार के सभी व्यक्तियों को कभी न कभी रोगी होकर बहुत दुख उठाने पड़ते हैं। बुढ़ापे में अनेक यातनायें भुगतनी पड़ती हैं। दुर्बल होकर मनुष्य चल फिर नही सकता और सभी की एक न एक दिन मृत्य हो जाती है।" सिद्धार्थ अपने सारथी के यह वचन सुनकर मनुष्य जीवन के इन दुःखों पर विचार करने लगे। उन्होंने संयोग से एक सन्यासी को आते हुए देखा। उस सन्यासी को देखकर उन्हे कुछ शांति मिली।

सिद्धार्थ अपने महल में लौटकर जीवन की मूल समस्यस्याओं पर विचार करते रहे। अंत में वह पत्नी-पुत्र को सोते हुए अपना देश छोड़कर चले गये। उन्होंने कई सन्यासी-महात्माओं का सत्संग किया। बड़े-बड़े दार्शनिकों से ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु उनके मन को पूरी शांति नही मिली। कई दिनों की यात्रा के बाद, उन्हें ध्यान तपस्या के महान आचार्य अलाम कलाम से भेंट हुई। उनके साथ ध्यान का ज्ञान प्राप्त किया, सातो ध्यान में पकने के बाद भी उन्हें और उसके आगे प्राप्त करने के लिए श्री उद्धक रामपुत जो आठो ध्यान के आचार्य थे, उनसे दीक्षा

लेकर आठवाँ ध्यान सीखा। उसमें पारंगत होने पर भी उन्हे संतोष नही हुआ, उन्होंने जाना कि यह ध्यान करने वाला तपस्वी मृत्यु के बाद सबसे ऊँचे ब्रह्मलोक में जन्म लेकर कई कालों तक वहाँ का सुख भोगेगा परन्तु अन्त में कई कालों तक सुख-शान्ति का जीवन जीने के बाद फिर इस लोक में जन्म लेगा। उस युग में इससे ऊँची ध्यान साधना नहीं थी। उन्होंने अपने पाँच शिष्यों सहित "गया उरूबो" नामक स्थान पर जाकर एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठकर कठोर तपस्या किया। सिद्धार्थ ने वहाँ छः वर्षो तक कठोर तपस्या की और उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया, फिर भी उनको अतृप्ति रही। एक गाँव की कुछ औरतों से गीत सुना जिसका सार था "वीणा के तार को इतना मत कसो कि जिससे उसके तार ही टूट जाएँ और ना ही वीणा के तार को उतना ढीला करो कि उसमें कोई आवाज ही न निकले।"

सिद्धार्थ के मन पर इस गीत का बड़ा प्रभाव पड़ा और मध्यम मार्ग का ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाकर एक नयी विधि से ध्यान करने का निर्णय लिया। उसी समय सुजाता नाम की स्त्री पीपल के वृक्ष की पूजा के निमित्त वहाँ आई और सिद्धार्थ को पीपल का देवता समझकर, उन्हें घर से लायी खीर खिलाया उनके पाँचों साथी उन्हें खीर खाते देखकर उन्हें पथभ्रष्ट योगी कहकर उनका साथ छोड़कर चले गये। सिद्धार्थ ने उसी वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे ध्यान किया और उनको वहीं ज्ञान का, मुक्ति का प्रकाश मिला। सिद्धार्थ को वहाँ बौद्धि प्राप्त हुई और तब से वे भगवान गौतम बुद्ध कहलाये। गौतम उनका गोत्र था, वह पीपल का वृक्ष, बाद में बोधि वृक्ष कहलाया।

बौद्धि प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को एक जीवन नहीं सैकड़ो जीवनों तक दस पारमिताओं को पूर्ण करना पड़ता है। हर जीवन में त्याग सेवा, सदाचार का जीवन जीता है और अंत में यह सर्वज्ञाता, चित की निर्वाणिक स्थिति को प्राप्त होता है। जो व्यक्ति बौद्धि प्राप्त करके बुद्ध बनता है, उसकी स्थिति पानी में कमल जैसी निर्लिप्त हो जाती है। उसके लिए अपना-पराया कोई नहीं रहता। वे सब के प्रति करूणा भाव से लोक चक्र की जगह धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं। बौद्धि प्राप्त होने के उपरान्त गौतम बुद्ध बनारस के निकट सारनाथ गये। वहाँ उनके पाँचों साथी थे जो उन्हे छोड़ आये थे, वह मिल गये। उन्होंने उन्हें धर्म उपदेश दिया। यह उनका पहला उपदेश था। इस उपदेश को धर्मचक्र प्रर्वतन कहा गया। पाँचों शिष्य उनके साथ ध्यान करते हुए अर्हत अवस्था को पहुँच गये, यानी जीवन मरण के चक्र से मुक्त हो गये। गौतम बुद्ध अपने शिष्यों के साथ बनारस गये, वहाँ अनेक लोग उनके शिष्य बने। वहाँ से वे राजगृह गये, वहाँ मगध नरेश बिम्बसार भगवान बुद्ध का उपदेश सुनकर उनके अनुयायी हो गये। भगवान बुद्ध ने 80 वर्ष की आयु तक बड़े करुण भाव से राजा से लेकर रंक तक, नर्तकी आम्रपाली, डाकू अंगुलिमान, सुनितभंगी, उपाली नाई, ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कुमारों को, व्यापारी अनाथ पिण्डक जैसे सेठ को धर्म का लाभ कराकर शांत-सुखी बनाया, उनका जीवन बदल गया। भगवान बुद्ध ने गया, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों का भ्रमण किया। वे अपने जन्म स्थान कपिलवस्तु भी गये। अपने पिता, मौसी प्रजापति गौतमी को परिवार के अन्य सदस्यों से मिले। पुत्र राहुल भिक्षु बन गया,

पत्नी यशोधरा धर्म धारण करके भिक्षुणी बन गयी और सब ध्यान की इतनी ऊँची अवस्था में पहुँचकर अर्हन्त अवस्था तक पहुँच गये।

उन्होंने अपने उपदेशों में ध्यान द्वारा अपने मन को शुद्ध निर्मल करने की विधि और अहिंसा पर बहुत जोर दिया, पशुबलि का कठोरता से विरोध किया । वे जीवों के प्रति किसी भी रूप में हानि को हिंसा मानते थे। बुद्ध ने सामाजिक ऊँच-नीच, छुआ-छूत की भावना को अत्याचार बताया। उनका कहना था कि ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। मनुष्य अपने कर्मो से ब्राह्मण-अब्राह्मण बनता है। भगवान बुद्ध का कहना है कि संसार दुखों का घर है। जन्म भी दुख है, बुढ़ापा भी दुख है, मरण-शोक, मन का खेद सब दुख हैं। अप्रिय से संयोग और प्रिय से वियोग भी दुख है। वांछित वस्तु न पाना भी दुख है। एक न एक दुख मनुष्य को लगा रहता है। जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। विपश्यना ध्यान साधना के द्वारा जो अपने विकारों को क्षय कर लेता हैं, राग-द्वेष - मोह से मुक्त होकर आवागमन के चक्कर से मुक्त हो सकता है।

गौतम बुद्ध ने 29 वर्ष की आयु में गृह त्याग किया था, छः वर्ष तक तरह-तरह की तपस्या में लगे रहे। 35 वर्ष की आयु में बोधि (ज्ञान) प्राप्त किया। 45 वर्ष का शेष जीवन लोक कल्याण में ही बीता। अपने वचन और कर्म से संसार में किसी एक आदमी ने लोक में इतनी सद्भावनाओं का संचार नही किया, जितना गौतम बुद्ध ने। भगवान गौतम

बुद्ध ने धर्म-चक्र चलाया था, उसकी विशेषता है बिना एक बूंद रक्त बहाये वह धर्म-चक्र संसार भर में फैल गया।

गौतम बुद्ध के रूप में हमें एक ऐसी महान विभूति के दर्शन होते हैं, जिसकी कोई तुलना नही। जिसका कोई मुकाबला नहीं। पूरी मनुष्य जाति के इतिहास में ऐसा प्रज्ञा पुरुष दूसरा कोई नहीं हुआ। गौतम बुद्ध- जिसने लोगों को जगाया, जिसने लोगों को उठाया। जिसने लोगों की आँखे खोली, जिसने लोगों को ज्ञान दिया, उतना और किसी ने नहीं। उनके माध्यम से जितने लोगों को शांति मिली, संतोष मिला, तृप्ति मिली उतना और किसी के माध्यम से नहीं। जिस दिन गौतम बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त हुआ, वह दिन मानवता का कल्याण दिवस था। मंगल दिवस था, क्योंकि एक मनुष्य अपने प्रयत्न से ऐसे ऊँचे शिखर पर चढ़ने में सफल हो गया था। जीवन का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण गौतम बुद्ध ने किया, फिर कभी किसी ने नही किया। उन्होंने जो ज्ञान दिया, जिसके अभ्यास करते रहने से मनुष्य जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वे कहा करते थे "मैं जो कहता हूँ उस पर इसलिए भरोसा मत करना कि "मैं" कहता हूँ। तुम उसे सोचना, विचारना, मनन करना, उसको जीवन में करके देखना, यदि तुम्हें उससे लाभ मिलता है तो करना वर्ना उसे छोड़ देना। तुम अपने अनुभव की कसौटी पर कसके देखना। यूँ ही मत मान लेना कि हमारे आचार्य ने कहा है।" वे अपने भिक्षुओं से कहा करत थे - "तुम अपने दीपक खुद बनो। किसी दूसरे के सहारे जीने की कोशिश मत करो। कोई शास्ता तुम्हारे हाथ में प्रकाश दे सकता है, परन्तु खोजना तो तुम्हें

ही पड़ेगा। जीवन का सत्य स्वयं खोजने से ही मिलता है। तुम स्वयं अपने कदमों पर चलो।" यदि सारी बुद्ध वाणी को दो शब्दों में व्यक्त करना चाहें तो वे दो शब्द है - "दुख है और दुख से मुक्ति"।

भगवान गौतम बुद्ध अपनी धर्म यात्रा करते हुये कुशीनगर के सालवन में पहुँचे, उनके पेट में भयंकर दर्द था, उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने दो शाल वृक्षों के मध्य शायिका बिछायी, जिस पर महात्मा बुद्ध महापरिनिर्वाण हेतु उत्तर दिशा की ओर सिर करके दाहिनी करवट लेकर लेट गये। अपने अंतिम शिष्य सुभद्र को ध्यान की दीक्षा देने के अलावा अपने अनुयायियों, भिक्षुओं को अंतिम धर्मोपदेश देकर 483 ई० पूर्व की बैशाख पूर्णिमा की रात्रि के अंतिम प्रहर को अस्सी वर्ष की आयु में महात्मा बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। शव दाह के बाद अस्थि-अवशेषों को स्वर्ण कलश में रखा गया। अब प्रश्न स्वामित्व का था।

कपिलवस्तु के शाक्यों ने कहा-बुद्ध हमारे राजपुत्र थे। रामग्राम के कोलियों ने कहा-हमारे दौहित्र थे। लिच्छवी का दावा था - बुद्ध को वैशाली प्रिय थी। इस प्रकार अल्लकप्प के बुलियों, वेठद्वीप के ब्राह्मणों, पावा के मल्लों एवं विष्णुदीप आदि ने बुद्ध को अपना बताया। कुशीनगर के मल्लगण प्रमुखों ने कहा - "बुद्ध ने हमारे यहाँ परिनिर्वाण प्राप्त किया है, इसलिए यह अस्थि-अवशेष हमारा है ।"

ये आठ अधिकारी वाद-विवाद में उलझ गये। लड़ने-मरने को तैयार हो गये। बुद्ध के ये अनुयायी - बुद्ध को समझ न पाये। उनके उपदेशों का पालन करने की बजाय लड़ने लगे।

तभी द्रोण - एक कुशाग्र बुद्धिमान ब्राह्मण, सर्वसम्मानित ब्राह्मण ने कहा- "राजन, लड़ो मत, तथागत क्षमाशील थे। क्या शांतिवादी की अस्थियों के लिए लड़ाई झगड़े होने चाहिए? अब तो सब कहने लगे - "नहीं"। द्रोण - "तो फिर इन अस्थियों को आठ भागों में विभाजित कर लेंना चाहिए।" ऐसा ही हुआ। इस प्रकार की बुद्धिमता से भयंकर दुर्घटना टली।

भगवान बुद्ध के अस्थि-अवशेषों के आठ भाग किये गये थे। कोलियों को उनका भाग मिला था। वह उन्होंने रामग्राम में स्तूप बनवाकर सुरक्षित रख दिया था।

श्री लंका से 2 भिक्षु आये और अपने सिद्धि बल का प्रयोग करके उन्हें श्रीलंका ले गये। वहाँ राजा ने उन्हें ग्रहण कर अनुराधापुरम में स्वर्णमलिय चैत्य में उन्हें सुरक्षित रख दिया। चैत्य भी ठीक वैसा ही बनवाया, जैसा रामग्राम के कोलियों ने बनवाया था।

विभिन्न राज्यों के नरेशों ने अपनी - अपनी राजधानियों में नवनिर्मित स्तूपों में महात्मा बुद्ध के पवित्र अवशेषों को प्रतिष्ठापित किया। मौर्यों ने चिता - भस्म पर तथा द्रोण ने विभाजन पात्र पर स्तूपों का निर्माण करवाया। सांची स्तूप के तोरण द्वार पर इस घटना के द्योतक कुछ चित्र अंकित हैं।

महान मौर्य सम्राट अशोक ने कुशीनगर की भी यात्रा की थी, और वहाँ पर चैत्य निर्माण के लिए एक लाख की धनराशि प्रदान की थी। ह्वेनसांग के समय वहाँ पर अशोक निर्मित तीन स्तूप तथा दो स्तम्भ

विद्यमान थे। उत्खनन में इनके अवशेष प्राप्त हुए हैं। गुप्त नरेश कुमार गुप्त प्रथम के शासनकाल में हरिबल स्वामी ने कसिया में बुद्ध की सुविख्यात लेटी हुई मुद्रा में "परिनिर्वाण मूर्ति" प्रतिष्ठापित की थी।कसिया कुशीनगर का ही भाग था। 1904 से 1907 तक पुरातत्व विभाग ने यहाँ उत्खनन कराया। फलस्वरूप बहुत से स्तूप, विहार, चैत्यों आदि के अवशेष प्रकाश में आये। ये अवशेष मुख्यतः दो स्थानों मे केन्द्रित हैं। पहला शालवन, जहाँ महात्मा बुद्ध महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे और दूसरा मुकुट बंधन चैत्य - जहाँ उनका दाह संस्कार हुआ था। आज महानिर्वाण स्थल माताकुंवर का कोट के नाम से तथा दाह-संस्कार स्थल रामाभार का टीला नाम से प्रसिद्ध है।

आज कुशीनगर में अन्य प्राचीन अवशेषों के अलावा प्राचीन परिनिर्वाण की प्रतिकृति आदि मुख्य दर्शनीय स्थल हैं। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के अलावा अनेक विदेशी सरकारों विशेषकर बौद्धधर्मी देशों की सरकारों के सहयोग से कुशीनगर को विश्व स्तर का पर्यटन एवं धार्मिक स्थल बनाने में जनसामान्य से लेकर विश्वस्तरीय संस्थाओं तक का योगदान भी अविस्मरणीय है।

* * * * *

श्री वर्द्धमान महावीर

श्री वर्द्धमान महावीर का बिहार में मुजफ्फरपुर जिले के वैशाली में जिसे कुण्डलपुर भी कहते हैं, लिच्छवियों के पंचायती राज्य में चैत्र शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को कुण्डलपुर नरेश सिद्धार्थ के घर में जन्म हुआ। बचपन से इनकी प्रतिभा कुशाग्र और अनुपम थी। प्रत्येक जीव के प्रति उनके मन में आत्मीयता का पावन भाव था। महावीर का जन्म उस समय हुआ था जब धर्म में हिंसा और पूंजी का ही वर्चस्व था। दान और यज्ञ की गरिमा के नाम पर स्वर्ग और अपवर्ग की आशा में धार्मिक वर्ग ने अर्थ और हिंसा का सहयोग लिया।

युवावस्था में महावीर का विवाह गुणवती, रूपवती कन्या से कर दिया गया था।

1. वे तीस वर्ष की तरूणाई में विशाल राज्य का वैभव एवं स्वजन-पुरजन यहाँ तक की धर्म पत्नी का भी परित्याग कर आत्म तत्व की खोज में एवं विश्व कल्याण की मंगल भावना से अकिंचन

भिक्षु (मुनि) बन गये। भिक्षु जीवन में उन्होने सर्वोत्कृष्ट कठोर तपस्या, शारीरिक यंत्रणा आदि माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया।

2. अध्यात्म चिंतन हेतु कभी निर्जन वन तो कभी पर्वत माला, कभी गहन-कन्दरा में 12.5 वर्षो तक घोरतम तप ध्यान मौन कर्म निर्त्तरा की आराधना करते हुए अंत में उज्जुवालिया (ऋजु पालिका) नदी तट पर वैशाख शुक्ल दशमी को शाल वृक्ष के नीचे नितराग से जुड़ गये। वे अरिहन्त बन गये याने सर्वज्ञ बन गये। वे जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हुए। मृत्यु पर विजय पाने के कारण वे "जिन" कहलाये और जिस धर्म का उन्होने प्रचार किया, वह जैन धर्म कहलाया। उनके उपदेश से उनके शिष्यों के लिए आवश्यक था कि वे चोरी न करें, हिंसा से विरत रहें, झूठ न बोले, धन न रखें, उन्होंने ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप पंचशील धर्म की देशना प्रसारित की। वे लोग सब प्रकार के छोटे-बड़े जीवों पर दया करते और इस डर से कि सांस लेते समय कीड़े न मर जायें अपने मुँह पर कपड़ा बाँधे रखते। इनके कई मुख्य शिष्य थे जो इनके विचारों का प्रचार करते थे। भगवान महावीर ने सत्य, अहिंसा की विशद व्याख्या की। साथ ही वस्तु विज्ञान की पूर्णतः और यथार्थता की चरम सीमा तक पहुँचने की जानकारी हेतु श्यादवाद का अनुपम विधान को विख्यात किया। प्राणों के अपहरण को अधर्म और अमानवीय मानने की आवाज उनके द्वारा उच्च स्वर में उठाई गई। "जियो और जीने दो" जैसे अमर संदेश देकर लोगों में अहिंसा का अमृत भरा। उनकी मान्यता थी कि सत्य की प्राप्ति में शरीर को हर
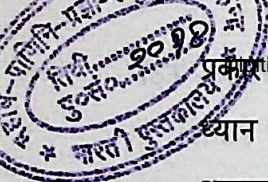
प्रकार की यातनायें दी जानी चाहिए। क्रमशः आहार कम करके ध्यान साधना में पकना चाहिए। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य की आत्मा में जो कुछ महान है और जो नैतिकता तथा शक्ति है, वही भगवान है। यज्ञ, मंत्र, विधान मात्र समय विनष्ट करते हैं। नैतिक चरित्र हेतु सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन, सम्यक चरित्र यह तीन तथ्य, तीन रत्न हैं।

महावीर स्वामी का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं था। वे भगवान को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते थे। वर्ण व्यवस्था को नहीं मानते थे, जाति वर्ग को, जन्म के आधार पर किसी के ऊँच-नीच की बात उन्हें अप्रिय थी। लघुता-महत्ता जन्म पर आधारित नहीं होती। वह मानव के क्रिया कलापों पर आधारित होती है। वे मानव जीवन में समानता रखने के पक्षधर थे। दास प्रथा के विरोधी थे। अन्य विश्वास और अविद्या को वे समूल नष्ट करना चाहते थे। मानवता के उत्थान के लिए महावीर सतत लगे रहे। लिच्छविराज चेटक की पुत्री और चम्पा नरेश दधिवाहन की पत्नी पदमावती उनकी प्रथम शिष्या बनी। बड़ी संख्या में उच्च घराने के नागरिक एवं साधारण समाज के लोग एवं राजघराने के लोग उनके अनुयायी एवं शिष्य बने।

भगवान महावीर के अनेकान्त सिद्धान्त की निष्पक्षता और असम्प्रदायिकता का अच्छा प्रचार हुआ क्योंकि वह वस्तु में विद्यमान सभी गुण धर्मों को स्वीकार कर उसका स्यादवाद द्वारा बिना किसी का पक्ष लिये प्रतिपादन करता है। वह जनमताग्रही -

जनो के समान नही था, जो पक्ष विपक्ष का आश्रय लेकर एक दूसरे से मात्सर्य रखते हुए विसंवादी बन जाते हैं। उनके पावन संदेशों, उदात्त चरित्र और उनके सिद्धान्त को आज भी कुछ लोग अपनाकर सुख का जीवन जीते हैं। श्री महावीर जी ने अपने जीवन को धर्मानुसार ढाला तथा चर्तुविधि श्री संघ की स्थापना की, इस कारण वे तीर्थंकर कहलाये।

3. प्रभु महावीर स्वामी बयालीस वर्षो तक गंध हस्ती की तरह आर्य भूमि पर विचरते रहे। क्षत्रिय वैश्य, ब्राह्मण तथा शूद्र सभी वर्ग के लोगो को नैतिक धर्म की शिक्षा दी यज्ञ बलि का विरोध किया, नारी स्वतंत्रता को प्राथमिकता दी। "जियो और जीने दो" इस जीवंत उद्घोषणा को जन-जन में साकार कर दिया। छुआछूत सहित सब भेदभाव की दीवार को ध्वस्त करके अस्पृश्यता-घृणा के जहर को नष्ट किया।

भगवान महावीर ने जो भी संदेश दिये तथा धर्म की जो भी व्याख्या की, वह सर्व साधारण लोगों के लिए उन्हीं की भाषा में की। उन्होंने प्रारम्भ से ही बिल्कुल साधारण जनों को अपनाया और बौद्धिक तथा वैचारिक काया-कल्प करके उन्हें समाज एवं लोक के लिए आदर्श पुरूषों के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने जो भी पंच महाव्रतों का संदेश दिया-वे थे सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा। इन पाँचों महाव्रतों की परिधि में समाज एवं व्यष्टि के सभी आचरण आ जाते हैं और इन महाव्रतों को जीवन में धारण कर लिया जाय तो निः संदेह लोग बहुत सुखी हो जायें, विषमताएं

मिट जायें और अन्तर्कलह भी नहीं रहे। श्री महावीरजी ने व्यष्टि की आचारवृद्धि पर ही जोर दिया था। लोक-परलोक आत्मा-परमात्मा की दुरूहता में वे अधिक नही उलझे।

प्रभु महावीर ने मानव को स्वयं ही अपना उन्नायक बनाकर उसकी गरिमा बढ़ाई है। उन्होंने बताया कि ईश्वर हमारा भाग्य निर्माता नहीं वरन् हमारे सत्-असत् कर्म ही हमें उत्थान और पतन की ओर ले जाते हैं।

प्रमु महावीर ने अर्न्तमुखी होकर आत्मा को उन्नति की ओर ले जाने का संदेश दिया। मन और इन्द्रियों के वशीभूत होने से इसकी अवनति होती है।

12.5 वर्ष की घोर तपस्या के पश्चात ही महावीर ने तत्कालीन बोलचाल की भाषा प्राकृत भाषा में अपना दिव्य संदेश दिया था।

वे महान धर्म प्रभावना करते हुए कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

महावीर के शासनकाल में चौदह हजार श्रमण, छत्तीस हजार श्रमणी, सात सौ केवली थे। उनके मुख्य शिष्य इन्द्रभूति (गौतम) आदि ग्यारह गणधर थे।

प्रमुख आर्या चंदन बाला थी। श्रावक में गाथापति आनन्द और श्राबिका रेवती थी।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि महावीर ने हमें जो क्रांति दृष्टि दी है। उसकी आज के वातावरण में और अधिक उपयोगिता है। यदि

मानव उनकी शिक्षाओं को अपने जीवन मे धारण कर लें तो विश्वशांति और सर्वधर्म समन्वय तो होगा ही, व्यक्ति आत्मिक उत्थान की दिशा में भी आगे बढ़ेगा। महावीर की दिव्यवाणी का सार यही है कि जब तक वृद्धावस्था न पकड़ ले, इन्द्रियां शिथिल न हो जायें और व्याधियों का जोर न बढ़ जाये, तब तक विवेकी आत्मा को अहिंसा, संयम और तप रूप धर्माचरण करना चाहिए।

अहिंसा को दैनिक आचार-व्यवहार का मुख्य सिद्धांत बताते हुए भी भगवान महावीर ने समय और परिस्थितियों के अनुसार "हिंसा" की विभिन्नताओं को समझा था। हिंसा करने वाले की नीयत, भावना व मानसिकता को देखना/समझना इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि जानबूझकर और इच्छा सहित की गई हिंसा पाप है। यह सर्वविदित है कि साधारण मनुष्यों द्वारा अपने विभिन्न कार्यो - जैसे खाना-रसोई, स्नान-धुलाई करने तथा सफर करने आदि अनेक विध-दिनचर्याओं में उनसे जीव हिंसा होती रहती है। कृषि, व्यापार तथा उद्योग-धंधों आदि के कार्यो में भी जीव हिंसा होती है। यहाँ तक कि अपने निज के प्राण, संपत्ति व देश को बचाने के कार्यो में भी हिंसा, मरणान्त हिंसा भी संभव है। गृहस्थ जीवन में हिंसा से कैसे बचा जा सकता है। इस प्रश्न के समाधान में भगवान महावीर ने हिंसा के तीन भेद किये हैं। इनमें गृहस्थ को निरर्थक और संकल्पजा हिंसा से दूर रहने की बात कही है, जो कि अत्यंत व्यवहार्य और सुखी जीवन की आधारशिला है। भगवान महावीर का कथन है - "कृषि, रक्षा, व्यापार, शिल्प और आजीविका के

लिए जो हिंसा की जाती है, उस हिंसा से कोई गृहस्थ बच नही पाता। इसी प्रकार आक्रमणकारियों का भी बल पूर्वक प्रतिरोध किया जाता है तथा जिस हिंसा के प्रेरक राग, द्वेष और प्रमाद होते हैं, और जिनमें आजीविका का प्रश्न गौण होता है, वह संकल्पजा हिंसा है। गृहस्थों (श्रावकों) के लिए मैनें यथाशक्ति अहिंसा के आचरण का विधान और संकल्पजा हिंसा का निषेध किया है।"

※ ※ ※ ※ ※

यीशु ईसा मसीह (जीसस क्राइस्ट)

बाइबिल के अनुसार - ईसा मसीह ने अपने समय के कुष्ठ रोगियों की खूब सेवा की और अपने शिष्यों से दलितों की सेवा करने का आहवान किया था । उन्होंने अपनी ध्यान उपासना शक्ति से बीमारीग्रस्तों की सेवा करके उन्हें स्वस्थ्य बना दिया। उनके उपदेशों में बुद्ध की वाणी, उनकी शिक्षा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है। वे कहा करते थे, "दूसरों के सम्बन्ध में न्यायाधीश मत बनो । तुम स्वयं अंर्तमुखी नही हुए, दूसरों के भीतर कैसे जाओगे । तुम जैसा व्यवहार लोगों से अपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम अन्य लोगों के साथ करो। हे श्रोताओं अपने शत्रु से भी स्नेह करो, प्रेम करो। जो आपको गाली दे, घृणा करे, तुम उनके प्रति भी करूणा मैत्री की भावना रखो। यदि कोई आपका धन चुराता है तो उसे मन से क्षमा कर दो, उसे वह द्रव्य दान कर दो, हो सकता है उसे आपसे अधिक उस धन की आवश्यकता है"। इस प्रकार उदात्त माननीय भावनाओं वाले आदेश ईसा की देन हैं।

ईसाइयत-इसके बारे में बिल्कुल बेखबर है कि जीसस निरंतर तीस वर्ष तक क़हाँ थे? वे अपने तीसवें साल में अचानक प्रकट होते हैं और तैंतीसवें साल में उन्हें वहाँ के यहूदी राजा द्वारा उनकी सेवा और जनता में उनके उपदेशों के प्रभाव से घबराकर उन्हें सूली पर चढ़ा दिया गया था। यीशु की अन्तिम प्रार्थना थी, "हे ईश्वर, उन्हें क्षमा करें, यह अबोध है, नही जानते, वे क्या कर रहे हैं।" रोमन जनता इस घटना से दुखी थी। यहूदियों की भीड़ हट जाने के बाद उन लोगों ने यीशु के शरीर को क्रूस से उतारकर कब्र में रख दिया। उन्हें कुछ आभास हुआ, उसके शरीर में कुछ चेतना सी दिखती है, अंधेरा होने लगा था, लोग सब अपने घर चले गये थे। उनके तीन प्रमुख शिष्य वहीं रहे और उनकी सेवा सुश्रुषा की, उनके घावों में दवा मलहम लगाई, उन्हें नया जीवन मिला।

जीसस निरंतर तीस वर्ष तक कहाँ थे, अनुसंधानकर्ता मनीषियों ने उनके इस लुप्त कड़ियों को खोज निकाला। इस अज्ञात काल में वे कश्मीर के एक बौद्ध विहार में थे। इसके अनेक रिकार्ड मिलते हैं और कश्मीर की जनश्रुतियों में वे बौद्ध भिक्षु बनकर ध्यान का अभ्यास किया करते थे। सुप्रसिद्ध रूसी पर्यटक नेतिविच की "द अननोन लाइफ ऑफ जीसस क्राइस्ट" नामक पुस्तक भी, जिसे उसने तिब्बत के बौद्ध मठों में प्राप्त सामग्री के आधार पर लिखा था तथा जिसमें ईसा के भारत आने और विभिन्न स्थानों पर उनके रहने का विस्तृत विवरण दिया गया है। साथ-साथ ईसाई और बौद्ध धर्म सम्प्रदाय में पायी जाने वाली अदभुत समानता, जिसे स्मिथ, विंटरनिज, इलियट तथा अन्य अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि ईसा पर किसी न किसी

सूत्र से बौद्ध प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है। उस समय भारत बौद्ध धर्म का विश्व विख्यात केन्द्र था तथा ईरान, अरब और ग्रीस आदि देशों के सुप्रसिद्ध विद्वान ज्ञानार्जन के लिए नियमित रूप से भारत की यात्रा किया करते थे। ऐसी अवस्था में ईसा का भारत भ्रमण, किसी विशेष आश्चर्य की बात नही मानी जा सकती।

ईसा को क्रूस पर चढ़ाने के बाद उनके शिष्यों ने उनकी सेवा सुश्रुषा की उन्हें नया जीवन मिला। इसके बाद अनुसंधानकर्ता मनीषियों ने उनके जीवन की लुप्त कड़ियों को खोज निकाला, जिससे यह प्रमाणित होता है कि ईसा कुछ देशों की यात्रा करते हुए दूसरी बार भारत आये और कश्मीर-पहलगाम को अपना स्थायी निवास बनाया।

निकोलस नाटोविच नामक एक रूसी यात्री सन 1887 में भारत आया था। वह लद्दाख भी गया था। वहाँ जाकर वह बीमार हो गया था। इसलिए उसे वहाँ प्रसिद्ध "हेमिस-गुम्पा" में ठहरना पड़ा। यहाँ पर उसने बौद्ध साहित्य और बौद्ध शास्त्रों के अनेक ग्रन्थों को पढ़ा। इसमें उसको जीसस के यहाँ आने के कई उल्लेख मिले। इन बौद्ध शास्त्रों में जीसस के उपदेशों की चर्चा की गई है। एक फ्रांसीसी यात्री ने सेंट जीसस नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित की थी। इसमें उन सब बातों का वर्णन किया है, जिससे उसे मालूम हुआ है कि जीसस लद्दाख तथा पूर्व के अन्य देशों में भी गये थे।

ऐसा लिखित रिकार्ड मिलता है कि जीसस लद्दाख से चलकर ऊँची बर्फीली पर्वतीय चोटियों को पार करके कश्मीर के पहलगाम नामक स्थान

पर पहुँचे। पहलगाम में वे लंबे समय तक रहे। यहीं पर जीसस को ईजराइल के खोये हुए कबीले के लोग मिले। इसके बाद जब जीसस श्रीनगर जा रहे थे तो उन्होने ईश-मुकाम नामक स्थान पर ठहरकर आराम किया और उपदेश भी दिया। क्योंकि जीसस ने इस जगह पर आराम किया इसलिए उन्ही के नाम पर इस स्थान का नाम "ईश मुकाम" हो गया। जीसस जब दुबारा कश्मीर आये और वहाँ पर 112 वर्ष की आयु तक जीवित रहे और एक गाँव में उनकी मृत्यु हो गयी। अरबी भाषा में जीसस को "ईसस" कहा गया है। कश्मीर में उनको "पूसा आसफ" कहा जाता था। उनकी कब्र पर भी लिखा गया है कि "यह पूसा आसफ की कब्र है जो दूर देश से आकर यहाँ रहा।"

"सर्पेंट ऑफ पेरेडाइज" के लेखक ने भी इस कब्र को देखा। वह कहता है कि "जब मैं कब्र के पास पहुँचा तो सूर्यास्त हो रहा था और वहाँ के लोगों के चेहर बड़े पावन दिखाई दे रहे थे। ऐसा लगता था जैसे वे प्राचीन समय के लोग हों । जूते उतारकर जब मैं भीतर गया तो मुझे एक बहुत पुरानी कब्र दिखाई दी जिसकी रक्षा के लिए चारो तरफ फिलीग्री की नकाशी किए हुए पत्थर की दीवार खड़ी थी। दूसरी ओर पत्थर में एक पदचिन्ह बना हुआ था। कहा जाता है कि यह पूसा आसफ का पद चिन्ह है और जनश्रुति के अनुसार पूसा आसफ जीसस है। यह कब्र यहूदी है, भारत में कोई भी कब्र ऐसी नही है। उस कब्र की बनावट यहूदी है और कब्र के ऊपर यहूदी भाषा हिब्रू में लिखा गया है। ईसाई धर्म के अनेक अनुयायी अब भी उनके दर्शनों के लिए वहाँ आया करते हैं।

जर्मनी के मूर्धन्य मनीषी होल्गर केस्टर्न ने इसकी गहराई से खोजबीन की है। इजरायल, मध्य पूर्व देश, अफगानिस्तान और भारत के सभी ऐतिहासिक स्थलों की यात्रा की जो किसी रूप में ईसा से संबंधित है। उसके अनुसार सन छः में लगभग 13 वर्ष की उम्र में वे व्यापारियों के वर्ग के साथ पहली बार भारत आये थे और लगभग 16-17 वर्ष तक कश्मीर, तिब्बत के बौद्ध विहारों में अध्ययनरत रहे, ध्यान साधना भी सीखी। यही कारण था कि जब सन 30 में 30 वर्ष की आयु में जब येरूसलम पहुँचे तो भौतिक सिद्धियाँ संपन्न महामानव बन कर पहुँचे। 80 वर्ष की अवस्था में कश्मीर के आस-पास अपने भौतिक शरीर का त्याग किया। जिसके अनेकों प्रमाण मौजूद हैं।

बाईबिल (33-61-1) में ईसा की वाणी:

"मेरे शिष्यों तुम रक्त बहाना छोड़ दो और अपने मुँह में मांस मत डालो। ईश्वर बड़ा दयालु है, उसकी आज्ञा है कि मनुष्य पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले फल और अनाज से जीवन निर्वाह करें।"

❊ ❊ ❊ ❊ ❊

हज़रत मोहम्मद साहब

हज़रत मोहम्मद साहब का जन्म सन् 570 ई.में मक्का में हुआ था। उस समय अरब देश धार्मिक रूप से अशान्ति की स्थिति मे था। इसकी खानाबदोश मूल-जातियाँ प्राय: मूर्तिपूजक थी तथा वे तारों, पत्थरों और भूतप्रेत की पूजा किया करतीं थी। 500 साल पहले से येरूसलम के विध्वंस के उपरांत बहुत से यहूदियों ने भी वहाँ अपने उपनिवेश बना लिए थे, जिनमें नेस्टोरियन (पुरोहित) ईरियन (परम्परावादी) और सैवेलियन (ईसाई) कुछ सम्प्रदाय थे। पर धार्मिक उपासनाओं के बहुत से अन्य ग्रूप भी बहाँ प्रयलित थे कुछ लोग हनफी भी थे, जो किसी भी धार्मिक समुदाय से सम्बन्ध नहीं रखते थे। मोहम्मद साहब के आगमन के पहले भी अरब के अनेक स्थानीय व्यक्तियों ने धार्मिक आन्दोलन की भूमिका एवं नैतिक सुधार का काम किया था साथ-साथ जब यह अनुभव किया जा रहा था, कि अब एक मसीहा के प्रकट होने और धर्म की स्थापना का समय आ रहा है। ऐसे समय मोहम्मद का जन्म हुआ था।

अपनी युवा अवस्था में उन्होंने "हीरा" नाम की गुफा में कई वर्ष ध्यान तपस्या की, सुबह चले जाते सायंकाल निकल कर घर आते। उन्हें ध्यान करते हुए जो ज्ञान प्राप्त होता था, अपने मित्रों तथा बाद में अपने शिष्यों को बतलाते, वही बाद में लिखे गये और उसे पवित्र "कुरान" नाम दिया। कुछ लोग उनके विचारों से सहमत नहीं थे, वे उनके शत्रु हो गये। एक रात्रि को उनके शत्रुओं ने उनकी हत्या करने की योजना बनाई। पैगम्बर मोहम्मद अरब के मक्के से मदीना नगर की और चले गये। इस नगर त्याग की घटना को हिजरत कहते हैं। जिससे नया इस्लामी हिजरी सम्वत् आरम्भ हुआ। पैगम्बर हजरत मोहम्मद मुस्तफा पूरे रमजान महीने में रोज़े (उपवास) रखते थे। इस मास में (गरीबों को) विशेष दान दिया जाता है, जिसको ज़कात कहते हैं। उन्होंन कहा था एक महीना उपवास रखने से शरीर तन्दरूस्त और मन पवित्र होता है। इसके अगले महीने को शाबान कहते हैं। शाबान महीने की 15 वीं रात्रि को बहुत शुभ एवं महत्वपूर्ण माना जाता है। इस रात्रि में अल्लाह की इबादत की जाती है। सूर्यास्त से सूर्योदय तक मुसलमान पवित्र कुरान का पाठ करते हैं नमाज़ पढी जाती है और दुआयें मांगते हैं। मुसलमानों को ऐसा विश्वास है कि इस रात्रि को ही पवित्र फरिश्ते वर्ष भर की रोज़ी, रोटी, आयु, जीवन और मृत्यु तथा समस्त घटनाओं को लिख कर चले जाते हैं। इस कारण इस रात्रि को अल्लाह से दुआयें मांगते हैं। मोहम्मद साहब के समय में अरब जगत में असमानता, अन्याय, अत्याचार तथा अनाचार का बोल बाला था। लोग छोटी-छोटी बातों के लिए लड़ाई-झगड़े, कत्ले आम करने पर आमादा हो जाते थे।

पैगम्बर मोहम्मद साहब के ज्ञान भरे धार्मिक प्रचार से लोगों में बुद्धि आई और खून खराबा कम हुआ। उन्होने एकेश्वरवाद का प्रचार किया।

हज़रत मोहम्मद साहब के बारे मे हदीसों में ऐसे प्रकरण मिलते हैं कि वे सुबह के समय पूर्व की ओर मुँह करके कई बार गहरी श्वांस लिया करते थे। उनके शिष्यों ने जब इसका कारण पूछा तब उन्होंने बताया - प्रातःकाल पूर्व की ओर से जो हवा आती है, उसमें मुझे अध्यात्मिकता की तरगें मिलती हैं।

एक दफा मोहम्मद साहब अपने साथियों के साथ सख्त गर्मी के मौसम में अरब के रेगिस्तान में बैठे थे, एकाएक उन्हें ठंड लगने लगी। एक साथी ने पूछा "या रसूल अल्लाह यह क्या?" उन्होंने उत्तर दिया "ठंडी हवा" फिर सवाल किया गया -"कहाँ से" ? रसूल ने कहा - "मीनलहिन्द" इससे यह लगता है, अवश्य ही उनको भारत से लगाव रहा है। अध्यात्मिक, मानसिक शांति के लिए या अध्ययन के लिए वे अवश्य भारत आये थे।

रसूल इन्सानों से ही नहीं, जानवरों से भी प्यार करते थे। वे बिना कारण जीव हत्या के कट्टर विरोधी थे। रसूल गरीब लोगों में रह कर खुश रहते थे, किसी फकीर को अपने से कम नहीं समझते थे। किसी बादशाह को बड़ा नहीं मानते थे। अपने जूतों को खुद टांकते, फटे कपडों में पेवंद लगाते, जानवरों को चारा देते, मकान की स्वयं सफाई करते। उनकी जबान पर कभी गंदी बात नहीं आती। सबको पहले खुद ही सलाम

करते, किसी की भी दावत कबूल कर लेते, किसी का दिल दुखाना उन्हें मंजूर नहीं था। उन्होंने कहा था: "नेकी पुरानी नहीं होती, गुनाह भुलाया नहीं जाता" । ईश्वर अनंत है, जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा। मोहम्मद के मुँह से उनके शिष्यों ने बार-बार रहमान नाम सुना, तो उन्होंने पूछा - "अल्लाह के अलावा यह रहमान कौन है?" मोहम्मद ने कहा "रहमान अल्लाह से कोई भिन्न नहीं है। जो अल्लाह है नही रहमान है और जो रहमान है वही अल्लाह"। अल्लाह याने ईश्वर शब्द जो निर्गुण वाचक है। वह किसी भी "गुण" का दर्शक नहीं, मात्र शब्द है, एक प्रतीक है। किन्तु जब उसे सगुण रूप में देखने का प्रसंग आया तो मोहम्मद साहब के समस्त सदगुणों का समुच्चय "रहम" (दया) शब्द में दिखाई दिया। रहमान या रहीम का अर्थ है "दयालु, कृपालु, करुणानिधि।" । कुरान के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में "अल्लाह" का या "रहीम" का उच्चारण किया जाता है। "इस्लाम" शब्द का अर्थ शांति और स्वेच्छा है।

देवानाम प्रियदर्शी सम्राट अशोक

संसार के इतिहास में सम्राट अशोक का नाम देदीप्यमान नक्षत्र के समान भारत के गौरव को महानतम् ऊँचाइयों पर स्थापित करने वाला है। धर्म से किस प्रकार व्यक्ति और राष्ट्र का विकास होता है, यह अशोक के जीवन में अच्छी प्रकार परिलक्षित होता है।

मगध के सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्च के पुत्र युवराज बिन्दुसार के अनेक पुत्रों में अशोक उनका छोटा पुत्र था। युवराज अशोक का जन्म 304 ई० पूर्व में हुआ था। इसी वर्ष उनके दादा सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने सीरिया के राजा सेल्यूकस द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण को विफल किया था। यह अशोक के जन्म की शुभ घटना थी। सम्राट चन्द्रगुप्त ने इस अवसर पर सीरिया के अधीन चार प्रदेशों-एशिया (हेरात), आरकोशिया (कन्धार), बलूचिस्तान, हिन्दुकुश को भारत में मिला लिया।

299 ई० पूर्व में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का देहान्त हुआ और बिन्दुसार भारत का सम्राट बना। युवराज के रूप में अशोक उज्जैन में राज्यपाल

नियुक्त हुआ। वहाँ उसने अपने भाई सुसीम के कुप्रबन्ध के कारण हुए विद्रोह को शान्त किया था। उज्जैन में रहते हुए अशोक का विवाह विदिसा के एक धनी की पुत्री देवी से हो गया। देवी शाक्य कुल से थी। युवरानी से अशोक के युवराज पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा का जन्म हुआ। बिम्बसार की मृत्यु पर 274 ई० पूर्व और 34 वर्ष की आयु में अशोक का पाटलिपुत्र में राज्याभिषेक हुआ।

सम्राट अशोक का राज्य विस्तार पश्चिम में ईरान-सीरिया, उत्तर में कश्मीर, दक्षिण में मदुराई और पूर्व में बंगाल तक हो चुका था। सम्राट अशोक के पास 6 लाख सेना थी। उसकी सेना में पदाति, अश्वरोही, रथ सेना, हाथी सेना, परिवहन तथा नौ-सेना आदि थी। उसने अपने बल पराक्रम से सारे भारत एवं भारत के बाहर कई देशों को जीतकर अपने राज्य में मिलाया था। परन्तु कलिंग देश (वर्तमान उड़ीसा) उनके राज्य में नही था। अशोक को यह बहुत अखर रहा था। उसने कलिंग पर हमला किया और अपने एक लाख सैनिक रणभूमि में खोकर विजय प्राप्त की, परन्तु उनको इस युद्ध से बहुत ग्लानि हुई। कलिंग के लाखो सैनिक मारे गये थे-इतने लोगों की मृत्यु के बाद उनकी जीत से भी उनके मन में हार का बोध हो रहा था।

सम्राट अशोक के भाई जो गौतम बुद्ध के अनुयायी थे - बौद्ध भिक्षु बन गये थे। सम्राट अशोक भी उनकी शरण में गये। उनका जीवन बदल गया। भगवान गौतम बुद्ध के उपदेश को अपनाने वाले महाराज अशोक ने कलिंग विजय के बाद धर्म राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया था। युद्ध में हारकर, युद्ध से विरत होने वाले राजाओं की संसार में कमी

नहीं होगी, परन्तु युद्ध में जीतकर युद्ध से विरत होने वाला शायद एक ही सम्राट हुआ है - वह है "देवानां प्रिय अशोक"। सम्राट यद्यपि धार्मिक और अहिंसा प्रिय हो गया था पर उसने राष्ट्र की सुरक्षा में कोई कमी नही आने दी। सम्राट ने इस युद्ध के पश्चात, विजय के लिए युद्ध छोड़ा था, देश की प्रतिरक्षा नही छोड़ी थी। इस कारण उसने सेना में कोई कमी नही की थी। भारत की इस सैन्य शक्ति के कारण ही कोई विदेशी आक्रमण भारत पर नहीं हुआ। इस सैन्य शक्ति के बल पर ही सम्राट ने सीमान्त जातियों को स्वेच्छा से स्वतंत्रता तो दी थी पर उन पर यह शर्त भी साफ तौर पर लगा दी थी कि वे धर्म के मार्ग पर चलें, बुरे मार्ग से लज्जा करे- यह बताता है कि अशोक के पास इतनी सैनिक शक्ति थी कि वह सीमान्त के लोगों से अपनी शर्त मनवा सकता था। सम्राट अशोक अपना राज्य सेनापति और मंत्रियों की देख-रेख में छोड़कर 6 वर्ष तक वैराठ (राजस्थान) के बौद्ध बिहार में ध्यान साधना में तपने के लिए चले गये थे। सम्राट के जो 200 शिला लेख प्राप्त हुए हैं, वे अफगानिस्तान में जलालाबाद, नेपाल में लुम्बिनी, पाकिस्तान में पेशावर, भारत में गिरनार गुजरात, सौपारा महाराष्ट्र, साँची मध्यप्रदेश, चितल दुर्ग मैसूर, कर्नूल आन्ध्र प्रदेश, भुवनेश्वर उड़ीसा, वैराठ राजस्थान, सारनाथ उत्तर प्रदेश, इन प्रमुख स्थानों के अतिरिक्त भी अनेक स्थान पर प्राप्त हुए है। शिला लेखों मे लिखे वाक्यों से मानव सभ्यता के एक महान युग का 262 ई० पूर्व आरम्भ होता है। लगभग डेढ़ वर्ष तक सम्राट ने घोर पराक्रम से तप, ध्यान किया और फिर अपने 60 वर्षीय आचार्य उपगुप्त के साथ अपनी सेना लेकर राज परिवार सहित वह 260 ई० पूर्व बोध गया स्थित सम्बोधि

मंदिर की यात्रा पर गये। इस यात्रा का दृश्य सांची स्तूप के पूर्वी तोरणद्वार पर उत्कीर्ण है, जिसमें सम्राट हाथी से उतर कर बोधि वृक्ष की पूजा के लिए जा रहे है। यहाँ सम्राट प्रभूत स्वर्ण दान दिया। फिर वह सारनाथ कुशीनगर और श्रावस्ती की धर्म यात्रा पर गये, वहाँ भी विपुल स्वर्णदान किया।

260 ई० पूर्व में धर्मयात्रा से लौटकर सम्राट अशोक लोक कल्याण के काम में लग गये। भगवान बुद्ध ने कहा था कि राजा वह जो रंजन करे अर्थात प्रजा को सुखी करे। इसी आदर्श को सामने रख अशोक ने पशुबलि करना निषेध कर दिया। आम राजा अपने आमोद-प्रमोद, आखेट और भोग विलास में समय बिताता है एवं युद्ध और विजय पाने की लालसा में जीवन बिताता है, सम्राट ने इसका पूर्ण त्याग किया।

इसके स्थान पर उन्होने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय बनवाये, चिकित्सा के लिए देशी-विदेशी औषधियों के बाग लगवाए। प्रत्येक मार्ग पर आधे कोस पर कुंए और धर्मशालाएँ बनवाई, मार्गो के किनारे बरगद, आम और अन्य छायादार वृक्ष लगवाए, मनुष्य एवं पशुओं के लिए प्याऊ बनवाया।

सम्राट अपनी प्रजा को पुत्रवत समझता था। उसने उनकी देखभाल के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की और उनसे अपेक्षा की कि वे प्रजा की देखभाल वैसे करेगें जैसे एक धाय बालक की करती है। वह प्रजा का हाल जानने के लिए निरन्तर यात्राएँ करता रहता था। गिरनार के शिलालेख में सम्राट का आदेश है कि उसे हर समय प्रजा के कष्ट के समाचार तुरन्त

पहुँचाए जाएँ। धर्म ध्यान करता हुआ भी सम्राट अपना राज्य दायित्व पूरी तरह निभाता था। धर्म ध्यान को पलायन नहीं कह सकते ।

सम्राट ने आदेश दिया हुआ था कि वे चाहे राजसभा, शयन, भोजन, धर्मसभा या रनवास में जहाँ कहीं हो, प्रजा के कष्टों की सूचना, उन्हें तुरन्त मिले। इसके लिए अलग से कर्मचारी नियुक्त करवाए थे। सम्राट सदा राज कार्यों में लगे रहते थे, सर्वहित कार्य में उनकी धर्म लगन बनी रहती थी। उन्होने विनोद विलास को त्याग दिया था।

प्रजा हित सुख और धर्म-वृद्धि के लिए जनभाषा मगधी और ब्राह्मी लिपि में सम्पूर्ण भारत के हजारों लेख प्रज्ञापित और आज्ञापित करवाये गये थे। उसके लिए जो धर्मस्तंभ लगवाए गये, उन पर हाथी, वृषभ और सिंह की आकृतियां बनवायी गयी, जो कि भगवान बुद्ध के जन्म, वंश, निष्क्रमण और धर्म के सिंहनाद के प्रतीक हैं। सम्राट ने स्वयं अपनी प्रजा से जानकर इन धर्म लेखों की आज्ञा दी थी। इसी कारण इनको प्रज्ञापित और आज्ञापित लिखा गया था। अब तक जो 200 लेख प्रकाश में आए हैं उनमें वैराठ (जयपुर) के लेख में सम्राट ने लोगों को बुद्धवाणी के निम्न सूत्र सुझाए थे।

1. धर्मचक्र सूत्र 2. अगुंतर निकाय 3. राहुलोद सूत्र 4. निजात (ध्यान)।

सभी प्रमुख धर्मलेखों में व्यक्त किये गये धर्म-संदेशों का लक्ष्य था कि सभी बंधन मुक्त हों। ध्यान के लिए उन्होने लिखा-वर्तमान को देखना (पटिलेखा) विपश्यना ध्यान द्वारा धर्मदान। चक्षुदान - विपश्यना ध्यान

द्वारा मन की आँखें खोलना। धम्मानु धम्म पटिपति - स्थूल धर्म से लेकर अणु धर्म की सूक्ष्मता को जानने का माध्यम है विपश्यना ध्यान। पराक्रम - निज्जमति याने विपश्यना ध्यान के लिए पराक्रम करना। विपश्यना ध्यान का अर्थ है, विज्ञान पूर्वक शरीर की संवेदनाओं को साक्षीभाव से देखना (जानना)। धर्ममंगल-सम्मा दिट्ठी, सम्मा संकल्प से संबन्धित कुछ बातें भी धर्म लेखों में हैं, जो महामंगल सूत्र से ली गयीं हैं, और इस प्रकार है - दया, मैत्री, सहिष्णुता, कृतज्ञता, संयम, भावशुद्धि, उत्साह, शौच और पाप से भय।

"धमेन पालना धमेन विधाने धमेन सुखीयाना।
धमेन गोतीति धम्मा पेखा, धम्मा कामता।"

धर्म लेखों में राजा के लिए धर्मानुशासनम् सर्वलोक हित उपदेश किया गया है। कन्धार, अफगानिस्तान के लेखानुसार इन धर्मलेखों का परिणाम यह हुआ कि लोगों में अहिंसा, शान्ति, प्रेम और संयम की वृद्धि हो गयी। बड़ों का आदर बढ़ा, जिससे पारिवारिक जीवन अधिक सुखी हो गया।

257 ई० पूर्व में सम्राट ने विश्व इतिहास में पहली बार एक नये स्वतंत्र विभाग का सृजन किया, जिसमें धर्म महामात्यों और स्त्री अध्यक्ष धर्म महामात्यों की नियुक्ति की गई।

अशोक के समय देश समृद्ध था और विदेश व्यापार में भारत को प्रतिवर्ष 50 लाख स्वर्ण मुद्राओं का लाभ होता था और व्यापार संतुलन

भारत के पक्ष में था। अशोक के जो स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, उनकी विलक्षणता से जॉन मार्शल ने उन्हे अद्वितीय बताया और बी० स्मिथ ने उन्हे २० वीं शताब्दी की शक्ति से भी परे माना है। औसत में 50 टन भार वाले इन स्तम्भों की पालिश 2 हजार वर्षों के बाद भी धातु के बने होने का भ्रम पैदा करती है। पाटलिपुत्र के राजप्रासाद इतने भव्य थे कि फाहयान ने उन्हें देवताओं द्वारा निर्मित बताया। एक स्तम्भ दिल्ली लाने के लिए फिरोज तुगलक को 8400 श्रमिकों की जरूरत पड़ी थी। इसी से मौर्य कालीन भारत के कारीगरों का चमत्कार दृष्टव्य है।

देश का जन साधारण सुखी और सम्पन्न था, लोग स्वस्थ्य और बलबान थे जिसका प्रमाण यूनानी इतिहासकार प्लीनी के आलेख और प्राचीन प्रतिमाओं में सुरक्षित है। भगवान बुद्ध के 8 धातु स्तूपों से सम्राट ने पवित्र अस्थियाँ लेकर उन पर भारत में हजारों चैत्य बनवाये, जिनमें से एक धातु चैत्य जयपुर जिले के विराट नगर की पहाड़ी पर स्थित है।

तृतीय धर्म संघायन :

सात वर्ष तक लोक सेवारत सम्राट ने अपने आचार्य उपगुप्त एवं तिष्य की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में भगवान बुद्ध की वाणी पाली त्रिपिटक की एकरूपता और शुद्धि के लिए धर्म संघायन का अनुष्ठान किया जो नौ महीने तक चला। इसके बाद विभिन्न देश व प्रदेशों में धर्मभिक्षुओं को उनकी धर्मवाणी एवं उनकी बतायी ध्यान विधि को देकर भेजा। उनके जो नाम ज्ञात है, उनके नाम और प्रदेश जहाँ वे गये, इस प्रकार हैं।

मज्झांतिक	कश्मीर और गांधार
महारक्षित	यूनान (ग्रीस) देश
मज्झिम	हिमालय क्षेत्र
धर्मरक्षित	पश्चिमी सीमान्त
महाधर्मरक्षित	महाराष्ट्र
महादेव	मैसूर
रक्षित	उत्तर कर्नाटक
सोण और उत्तर	स्वर्णभूमि ब्रह्मदेश

सम्राट अशोक महान ने अपनी पुत्री भिक्षुणी संघमित्रा और पुत्र भिक्षु महेन्द्र को श्रीलंका भेजा था। संघमित्रा अपने साथ बोध गया के पवित्र बोधिवृक्ष, जिसके नीचे सिद्धार्थ बुद्ध बने थे, उसकी पौध शाखा ले गयी थी। उसने वहाँ लगा दिया। जिसका पल्लवित बोधिवृक्ष आज भी वहाँ विद्यमान है। उस स्थान का विकास अनिरूद्ध शाक्य ने किया था, इसलिए उस स्थान का नाम अनुराधपुर पड़ा। भिक्षु महेन्द्र ने और भिक्षुणी संघमित्रा ने वहाँ के राज परिवार के सदस्यों और आम जनता को भगवान बुद्ध का सार्वजनीन और वैज्ञानिक धर्म सन्देश दिया। उसे समझाया सिखाया और अभ्यास कराकर तनाव रहित शान्त, सुखी, सम्पन्न और निश्चिन्त जीवन जीने का स्वाद स्वानुभूति के स्तर पर कराया। स्वानुभूति के स्तर पर अनुभव किया धम्म का अमृतमय स्वाद चखने के बाद उसे भला कोई क्यों और कैसे भूल सकता है। समूचा श्रीलंका पीत वस्त्रधारी भिक्षु भिक्षुणियों से ओतप्रोत दिखाई देने लगा।

इसके साथ-साथ सम्राट ने अन्य देशों में भी धर्म प्रसार के लिए लगभग सारे सभ्य संसार में धर्म-प्रचारक धर्म भिक्षु भेजे।

सीरिया	-	वहाँ के राजा थे; आंटियोकस
मिस्र	-	राजा टोलेमी
मेसेहोनिडो (यूनान)	-	राजा अटिंगोनस
सीरीन (पश्चिमी मिस्र)	-	राजा मेगास
एपिरस	-	राजा एलेक्जेण्डर

तिव्वत, अफगानीस्तान, थाईलेण्ड, चीन, कम्बोडिया, कोरिया आदि देशों में अनेक भिक्षु उनकी धर्मवाणी लेकर गये।

धर्म प्रसार के साथ ही सम्राट ने विदेशों में भी चिकित्सालय खुलवाए और मानव हित के कई कार्य किये, जो प्राचीन काल से आधुनिक काल तक एक मात्र उदाहरण के रूप में विश्व इतिहास में हैं। उस समय सारे सभ्य जगत में भारत की जदगुरूता, महानता और धार्मिकता की ऐसी कीर्ति हुई कि जिस कारण भारत को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा था।

250 ई० पूर्व सम्राट ने पुनः भगवान बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी वन की धर्म यात्रा की और वहाँ धर्म-स्तम्भ स्थापित करवाया, जो आज भी विद्यमान है। मध्य प्रदेश में सांची नामक स्थान, राज्य का प्राचीन बौद्ध सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। यहाँ भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य सारीपुत्र व मोदगलायन की अस्थियों पर दो विशाल स्तूप बने हुए हैं।

जीवन के अंतिम दिनों में सम्राट शायद अचन्त अवस्था में पहुँच गये थे। इसके पश्चात् 232 ई० पूर्व में लगभग 38 वर्ष के शासन के बाद 72 वर्ष की आयु में भारत के इस महान सपूत का देहान्त हो गया।

* * * * *

विपश्यना ध्यान साधना की धर्मयात्रा

शाक्य राजवंश

भारत और पड़ोसी ब्रह्मदेश का घनिष्ठ संबंध अनेक सदियों से बना हुआ था - राजनैतिक क्षेत्र में भी और व्यावसायिक क्षेत्र में भी। भगवान बुद्ध के पूर्व वर्षों पहले पांचाल देश में एक प्रतापी राजा हुआ, परन्तु वह उच्च क्षत्रिय कुल का नही था। वह किसी ऊँचे कुल से विवाह संबंध जोड़ने के लिए लालायित था। एतदर्थ उसने कोलिय-नरेश से उसकी राजकुमारी मांगी। कोलियों को इक्ष्वाकुकुलीन सूर्यवंशी क्षत्रिय होने का बहुत गर्व था। अतः कोलिय-नरेश ने पांचाल नरेश की यह मांग ठुकरा दी। परिणामस्वरूप दोनों में युद्ध छिड़ गया। देवदह और कपिलवस्तु की शक्ति भी पांचाल की बलवती सेना का सामना न कर सकी। शाक्यों और कोलियों के राज्य बिखर गये। कपिलवस्तु के परास्त शाक्यों का एक दल महाराज अभिराज के नेतृत्व में मध्यदेश से चलकर उत्तर-पूर्वी असम और उसके आगे छिन पर्वत को लांघते हुए उत्तरी ब्रह्मदेश में इरावदी नदी की घाटी में पहुँचा। वहाँ संघर्ष राष्ट्र के नाम से एक नए राज्य की स्थापना

की। इस नए राज्य की राजधानी टगाऊं थी। यह राज्य कई पीढ़ियों तक चला। शाक्यमुनि भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा से इन प्रवासी शाक्यों का संपर्क हो जाना स्वाभाविक था। उसी समय विपश्यना साधना का उत्तरी ब्रह्मदेश में प्रवेश हुआ होगा। शायद इसी कारण छिन पर्वतों के घने जंगल विपश्ययी साधकों के लिए तपोवन के रूप में सदा प्रसिद्ध रहे हैं। कहते हैं आज भी उन महावनों में यत्र-तत्र कोई साधक भिक्षु तपता हुआ मिल जाता है।

तपस्य-भल्लिक

उत्कल (उड़ीसा) को उन दिनों उक्कल कहते थे। वहाँ के कुछ लोग इरावदी नदी के मुहाने पर जा बसे थे। अत्यंत रमणीय होने के कारण उसका नाम रमण्य देश रखा। जहाँ आज रंगून नगर है, वहां उन्होनें उक्कल देश की याद में उक्कल नाम का एक नगर बसाया। आज भी रंगून नगर के समीप उक्कलापा नामक एक उपनगर बसा हुआ है।

वहाँ के तपस्य और भल्लिक नामक दों व्यापारी, व्यापार के सिलसिले में भारत आये और उरूवेल वन में से यात्रा करते हुए उन्होनें बोधिवृक्ष के नीचे भगवान बुद्ध को ध्यानस्थ बैठे देखा। भगवान को बुद्धत्व प्राप्त हुए सात सप्ताह बीत चुके थे। व्यापारियों ने अत्यंत श्रद्धापूर्वक अपने साथ लाये हुए भात और मधु से बने मोदक भगवान को अर्पित किये। यह सम्यक संबुद्ध का पहला भोजन था। इस घटना की स्मृति स्वरूप उन्होंने भगवान से कुछ भेंट चाही। भगवान का हाथ अनायास अपने सिर पर गया और सिर के आठ बाल उनके हाथ में आ गये। वे

दोनों उन आठ बालों को लेकर खुशी-खुशी स्वदेश लौट चले। अपने लौटने की अग्रिम सूचना उन्होंने स्वदेश भिजवा दी।

महाराज उक्कलपति और उक्कल के नागरिकों ने उन केशधातुओं का सम्मानपूर्वक स्वागत किया। नगर के समीप डगोन पहाड़ी की चोटी पर श्वेडगोन नामक स्तूप बनाकर उसके गर्भ में ये केशधातु स्थापित कर दी गयीं ताकि उस देश की जनता भावी पीढ़ियों तक उनके पूजन-अर्चन का लाभ ले सके।

इस यात्रा में तपस्य और भल्लिक को पूजन के लिए भगवान की केशधातु मिली, सम्यक संबुद्ध को प्रथम भोजनदान देने का परम पुण्यमय सौभाग्य मिला, परन्तु भगवान ने विपश्यना के रूप में जिस मुक्ति प्रदायक शुद्ध धर्म की खोज की थी, उससे वह वंचित ही रह गये। वह उन्हें अगली किसी यात्रा में मिला। इसका अभ्यास करके ही भल्लिक अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए। इस प्रकार इरावदी नदी के मुहाने पर बसे रमण्य देश में विपश्यना का प्रथम प्रवेश हुआ।

अर्हंत सीवली

ब्रह्मदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग में, सितांग और साल्विन नदी का मुहाना और दक्षिण की तनासरिम पहाड़ियां तथा पूर्व में आज के थाईलैंड के पश्चिमी भाग तक फैला हुआ सारा प्रदेश उन दिनों सुवर्णभूमि के नाम से जाना जात था। वहाँ मुख्यतः मान-खमेर जाति के लोग बसे हुए थे। दक्षिण भारत के तेलंगाना प्रदेश के भी कुछ लोग वहाँ जा बसे थे, जो कि तलाई (तैलंग) कहलाते थे। व्यापार के लिए वहाँ उत्तर भारत के लोगों का भी आवागमन था।

पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के पश्चात यश सहित जिन पचपन श्रेष्ठ पुत्रों ने भगवान से धर्म सीख कर अर्हंत अवस्था प्राप्त की, उनमें से एक थे भिक्षु सीवली। वह एक समृद्ध परिवार से भिक्षु हुए थे। यह परिवार देश और विदेश में बड़े पैमाने पर व्यापार करता था। व्यापार के सिलसिले में उनका एक छोटा भाई सीहराज स्वर्णभूमि जा बसा था। उसके जीवन में एक ऐसा सुयोग आया कि वह उस प्रदेश का शासक बन गया। सीहराज की छठी पीढ़ी में राजा उपदेव हुआ। उसने सुवर्णभूमि के लिए नई राजधानी स्थापित की, जिसका नाम सुधम्मवती रखा गया, जिसे कि आजकल थटोन कहते हैं।

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात भिक्षु सीवली साठ वर्षों तक जीवित रहे और धर्मसेवा करते रहे। अपने भाई सीहराज के आमंत्रण पर भिक्षु सीवली सुवर्णभूमि गये और वहाँ के लोगों को परियति के रूप में बुद्ध-वचनों का और पटिपति के रूप में विपश्यना का प्रशिक्षण दिया। तब से उस क्षेत्र में विपश्यना का प्रचार आरम्भ हुआ। आज भी ब्रह्मदेश के लोग भिक्षु सीवली को अत्यंत आदर के साथ याद करते हैं। आज भी सुधम्मवती (थटोन) के समीप एक पहाड़ी पर ध्यानी भिक्षु विपश्यना साधना का अभ्यास करते हैं।

सोण और उत्तर

ईसा के 326 वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र के अशोकाराम नामक विहार में राजा धम्मासोक (सम्राट अशोक) के संरक्षण में तीसरी धम्मसंगीति हुई। थेर मोग्गलिपुत्र तिस्य ने कुछ एक अरहंत भिक्षुओं को भारत और भारत

के बाहर धर्मदूत के रूप में भेजा। ब्रह्मदेश में सोण और उत्तर नामक दो अरहंत भिक्षु भेजे गये, जो कि राजनगरी सुधम्मवती के बंदरगाह तक उतरे। भिक्षु सोण और उत्तर तीसरी संगायन में स्वीकृत बुद्धवाणी के साथ-साथ भगवान द्वारा सिखाई गयी विपश्यना विद्या अपने साथ ले गये। सुवर्णभूमि के लोगों ने इन दोनों का सहर्ष स्वागत किया। अरहंत सीवली की कृपा से वहाँ के लोग इस विद्या का आस्वादन कर चुके थे और अब सोण और उत्तर ने वहाँ इस विद्या को एक नया जीवन दिया। इस प्रदेश का सुधर्म दृढ़ता से स्थापित होता चला गया। पीढ़ी दर पीढ़ी बहुत बड़ी संख्या में लोग त्रिपिटक में सुरक्षित बुद्धवाणी के पथ पर आगे बढ़ते रहे और विपश्यना विद्या का अभ्यास कर मुक्ति के पथ पर भी आगे बढ़ते रहे। ब्रह्मदेश में शुद्ध धर्म पुनः ले आने वाले अरहंत सोण और उत्तर को भी वहाँ के लोग बहुत आदर के साथ याद करते हैं।

भिक्षु सोण की शिष्य परपरा की छठी पीढ़ी में संघनायक भिक्षु हुए। उनके समय में उत्तर बर्मा के लोग सुधम्मवती आ-आकर भिक्षु सोण के साथ आयी धम्मवाणी त्रिपिटक और अट्ठकथाओं को सीखकर और उन्हें कंठस्थ कर उत्तर बर्मा में अपने-अपने जनपदों को ले जाते रहे। इस प्रकार सुधम्मवती नगरी शुद्ध धर्म का केन्द्र बन गयी और यहीं से भगवान की शिक्षा उत्तर की ओर जाती रही। कहा नहीं जा सकता कि इसके साथ-साथ विपश्यना विद्या भी गयी या नहीं?

समय बीतता गया और मध्य बर्मा में सुधम्मवती से गयी हुई यह शुद्ध विद्या दूषित होकर ह्रास को प्राप्त होती गयी और ईसा की दसवीं सदी तक बिगड़ती हुई अत्यंत घृणित अवस्था तक जा पहुँची। हो सकता

है पूर्वोत्तरं भारत के मार्ग से कोई वाममार्गी प्रभाव यहाँ जा पहुँचा हो। वहाँ के धर्मगुरू अपने आपको कहते तो थे-अरि याने आर्य, परन्तु जीते थे बड़ा ही दुश्शील जीवन। गनीमत थी कि दक्षिण की सुवर्णभूमि और उसकी राजधानी सुधम्मवती में धर्म अपने शुद्ध रूप में जीवित रहा, परियति के क्षेत्र में भी और पटिपति के क्षेत्र में भी।

स्थविर अरहं

ईसा की 11वीं शताब्दी के आरंभ में महाराज सीहराज की 48 वीं पीढ़ी में राजा मनुआ राजगद्दी पर बैठा। उन्ही दिनों वहाँ भिक्षु धम्मदस्सी हुए जिन्होने विपश्यना साधना द्वारा अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली थी। ब्रह्मदेश के इतिहास में वह स्थविर अरहं के नाम से प्रसिद्ध हुए। धर्म प्रचार के उद्देश्य से वह सुधम्मवती से उत्तर की और मध्य ब्रह्मदेश की यात्रा पर निकले। वहाँ पहुँचकर उन्होने भगवान के शुद्ध धर्म का अत्यंत दूषित रूप देखा। उन दिनों मध्य ब्रह्मदेश की राजधानी पगान (अरिमर्दन पुरगाम) में म्यंमा जाति का प्रतापी राजा अनोरथ (अनिरूद्ध) (ई. 1017-1059) राज्य कर रहा था। स्थविर अरहं राजा अनोरथ से मिले। उनसे शुद्ध धर्म का उपदेश सुनकर राजा अत्यंत प्रभावित हुआ। उसकी प्रबल इच्छा हुई कि वह स्वयं भी और उसकी प्रजा भी शुद्ध धर्म का पालन करे। इसके लिए उसने भिक्षु अरहं का मार्गदर्शन चाहा। भिक्षु अरहं ने बताया कि ऐसे अभियान की सफलता के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा में संपन्न आर्य अवस्था को पहुँचे हुए भिक्षुओं की आवश्यकता होगी, जो कि दक्षिण की सुवर्णभूमि में ही मिल सकेगें। इसके अतिरिक्त जनता को शुद्ध धर्म समझाने के लिए त्रिपिटक ग्रंथों का होना आवश्यक है। उसने

यह भी बताया कि श्रीलंका में ईसा के 29 वर्ष पूर्व हुई चौथी धर्मसंगीति में संपूर्ण त्रिपिटक और अट्ठकथाएं ताड़वृक्षों पर लिखा लिए गए। श्रीलंका के राजा वट्टगामिनी ने उस संपूर्ण संग्रह की एक प्रति सुधम्मवती नरेश को भेंट स्वरूप भिजवायी थी। यहाँ उसकी प्रतिलिपियाँ लिखायी जाती रहीं। सुधम्मवती के वर्तमान राजा मनुआ के पास इन हस्तलिखित धर्मग्रन्थों के तीस संग्रह हैं। उनमें से एक भी यहाँ आ जाये तो पर्याप्त होगा। सुवर्णभूमि से जो भिक्षु यहाँ आयेगें, वे इन धर्मग्रन्थों के सहारे यहाँ सरलता पूर्वक धर्मप्रचार कर सकेगें। महाराजा अनोरथ ने अपने राजदूत के जरिये राजा मनुआ को यह संदेश भेजा कि वह त्रिपिटक और अट्ठकथाओं का एक संग्रह उसे भिजवा दे। राजा मनुआ ने अनोरथ को नितांत अयोग्य पात्र घोषित कर उसकी यह मांग ठुकरा दी। अनोरथ इससे बहुत कुपित हुआ और अपने प्रतापी राजकुमार चांसिता के नेतृत्व में एक विशाल सेना के साथ सुधम्मवती पर धावा बोल दिया। राजा मनुआ बुरी तरह परास्त हुआ। वह बंदी बना कर पगान ले आया गया। सुधम्मवती से त्रिपिटक और अट्ठकथाओं के तीसों संग्रह बड़े सम्मान के साथ हाथियों की पीठ पर रखकर पगान ले आए गए। कुछ साधक और विद्वान भिक्षु भी ससम्मान लाए गये। महाराज अनोरथ ने उदारतापूर्वक बंदी राजा मनुआ के निवास के लिए पगान में एक राजमहल बनवा दिया। स्थविर अरहं के नेतृत्व में मध्य ब्रह्मदेश में शुद्ध धर्म के प्रचार का काम नए सिरे से आरम्भ हुआ। जनता ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। यों धर्मग्रन्थों के साथ-साथ विपश्यना भी ब्रह्मदेश के मध्य भाग में पहुँची।

कुछ समय पश्यात स्थविर अरहं ने पगान से आगे उत्तर की ओर यात्रा की। आज के मांडले नगर के सामने सरावदी नदी के पश्चिमी तट

पर सगाई नगर है। उसके समीप एक पहाड़ी है। स्थविर अरहं ने इसे ध्यान के लिए अत्यंत उपयुक्त माना और उसकी एक गुफा में विहार करने लगे और विपश्यना साधना में रत रहने लगे। उन्होंने यह घोषणा करवा दी कि जो भिक्षु धर्म के परियति पक्ष में पारंगत हो जाय और विपश्यना साधना सीखना चाहे, वह उनके पास आ जाय। यों कुछ एक भिक्षु उनके पास विपश्यना सीखने आने लगे। स्थविर अरहं के परिनिर्वाण के पश्चात भी विपश्यना प्रशिक्षण की यह परंपरा वहाँ कायम रही और सगाई पहाडी विपश्यना के लिए उपयुक्त भूमि बन गयी । उस मध्य युग से अर्वाचीन काल तक सगाई की पहाड़ी मुमुक्ष साधकों के तपने के लिए एक महत्वपूर्ण आकर्षण केन्द्र बनी रही। परन्तु यह शिक्षा केवल भिक्षुओं को ही दी जाती थी और वह भी बहुत थोड़ी संख्या में। यद्यपि संख्या हमेशा बहुत थोड़ी रही, परन्तु ब्रह्मदेश के इन संत साधकों ने पीढ़ी दर पीढ़ी विपश्यना साधना को अपने परंपरागत शुद्ध रूप में जीवित रखा।

भिक्षु लेडी सयाडो

सन 1971 में राजधानी मांडले में बरमी नरेश मिन डो मिं के संरक्षण में 2400 विद्वान भिक्षुओं की पांचवी धर्मसंगीति हुई, जिसमें एक होनहार युवा भिक्षु ने भाग लिया जो कि आगे चलकर लेडी सयाडो के नाम से विश्व-विश्रुत हुए। पालि का गम्भीर अध्ययन कर लेने के बाद लेडी सयाडो विपश्यना साधना की ओर आकृष्ट हुए और सगाई की पहाड़ियों में विहार करने वाले विपश्यना परंपरा के किसी आचार्य से यह विद्या सीखकर मनेवा नगर के समीप अपने जन्म स्थान लेडी ग्राम में विहार करने लगे। वहाँ एक छोटी-सी नदी के परले पार एक पहाड़ी गुफा

है, जहाँ वे शाम को जाकर रातभर ध्यान दिया करते थे। कुछ वर्षो के अभ्यास से विपश्यना में पारंगत होकर उन्होने अपने विहार में भिक्षुओं को विपश्यना सिखानी शुरू कर दी। उन्हीं दिनों उनके मन में यह मंगल भावना जागी कि अनेक सदियों से विपश्यना साधना केवल भिक्षुओं तक ही सीमित रही है। इसका लाभ सदगृहस्थों को भी मिलना चाहिए। भगवान भिक्षु ने यह विद्या केवल भिक्षुओं को ही नही, बल्कि गृहस्थों को भी सिखाई थी। भिक्षुओं की अपेक्षा विपश्यी गृहस्थों की संख्या कहीं अधिक थी। भगवान के जीवनकाल में ही बहुत बड़ी संख्या में गृही श्रोता उत्पन्न हुए थे, अनेक सकदागामी हुए, कुछ अनागामी हुए और तीन-चार तो गृहस्थ के बाने में ही अरहंत भी हुए थे। दीर्घदर्शी भिक्षु लेडी सयाडो ने देखा कि भगवान के प्रथम शासन के 2500 वर्ष पूरे होने वाले हैं। द्वितीय शासन आरंभ होने वाला है कि जो प्रथम शासन की भांति विपश्यना विद्या की शिक्षा से ही आरंभ होगा। सारे विश्व में भगवान द्वारा सिखाई गई विपश्यना के इस द्वितीय अभ्युदय में केवल भिक्षु ही नही, बल्कि आचार्यो का भी बहुत बड़ा हाथ होगा। अतः उन्होने गृहस्थों के लिए विपश्यना साधना का द्वार खोला, और सयातैजी जैसे समर्थ गृहस्थ आचार्य को प्रशिक्षित किया, जो कि उनके प्रमुख शिष्यों में से एक हुए।

सयातैजी

सयातैजी ने रंगून के समीप इरावदी नदी के पार डलल गांव में विपश्यना का केन्द्र स्थापित किया और अपने जीवन काल में 1000 से अधिक गृहस्थ और भिक्षुओं को विपश्यना सिखाकर यह सिद्ध कर दिया कि यदि पूर्व-पारमी संपन्न हो तो एक गृहस्थ भी सफल विपश्यनाचार्य बन सकता है।

सयाजी ऊ बा खिन

सयाजी ऊ बा खिन यथेष्ठ पारमी संपन्न थे और सदगृहस्थ सयातैजी के एक विशिष्ट सदगृहस्थ विपश्यी शिष्य थे। 2500 वर्ष की गुरू-शिष्य परंपरा द्वारा विपश्यना आचार्यो की अविच्छिन्न श्रृंखला की आधुनिक कड़ी के रूप में वह एक जाज्वल्यमान नक्षत्र सिद्ध हुए। आधुनिक शिक्षा से संपन्न होने के कारण उस गृही संत ने विपश्यना का वैज्ञानिक पक्ष उजागर किया। भले संख्या में थोड़े ही रहे हों, परन्तु उन्होंने ऐसे लोगों को विपश्यना सिखाई जो कि अलग-अलग परंपराओं से आए थे और भगवान की सही शिक्षा से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

सयाजी ऊ बा खिन ने सन 1937 में सया तेजी नामक कृषक से विपश्यना साधना सीखी और अपनी पुण्य पारमियों और कठोर परिश्रम के कारण शीघ्र ही इसमें बहुत आगे बढ़ गये। सन 1941 में उन्होंने स्वयं विपश्यना साधना सिखलाना आरम्भ कर दिया।

उन्ही के प्रशिक्षण काल में रंगून में छठी संगीति आयोजित हुई। बुद्ध शासन के 2500 वर्ष का प्रथम दौर पूरा हुआ और दूसरा आरंभ हुआ। एक मान्यता रही है कि तीसरी संगीति के धर्मगुरू स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने जब भिक्षु सोण और उत्तर को सुवर्णभूमि भेजा तो यह भविष्यवाणी की कि इस अनमोल धर्मरत्न को तुम जिस देश में ले जा रहे हो, वही इसे शुद्ध रूप से चिर काल तक जीवित रखेगा। समय बीतते-बीतते भारत सहित अन्य सभी देशों में विपश्यना विलुप्त हो जायेगी। जब 2500 वर्ष बाद द्वितीय शासन आरम्भ होगा तो ब्रह्मदेश से यह विद्या पुनः भारत

लौटेगी और वहाँ प्रतिष्ठित होकर शनैः शनैः सारे विश्व में प्रतिष्ठापित होगी और अकूत लोक-कल्याण करेगी। इसी कारण गुरूदेव ऊ बा खिन बार-बार कहते थे कि अब समय आ गया है। विपश्यना का डंका बज चुका है। अब भारत में ही नही सारे विश्व में खूब फैलेगी। इस पुनीत कार्य का शुभारम्भ करने के लिए वह स्वयं भारत आने के लिए उत्सुक थे, पर किन्ही कारणों से ऐसा न हो सका । द्वितीय बुद्ध शासन के आरम्भ से लेकर चौदह वर्षो तक अपने जिस प्रिय शिष्य को उन्होंने बड़े प्यार से विपश्यना का प्रशिक्षण दिया था, उसे ब्रह्मदेश पर भारत का पुरातन ऋण चुकाने के लिए 1969 में यहाँ भेजा। यों लगभग दो हजार बर्षो के अंतराल के बाद विपश्यना विद्या भारत लौटी और भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया।

भारत की यह पुरातन विद्या अपनी जन्मभूमि भारत में और सारे विश्व में पुनः प्रतिष्ठित हुई और वहाँ जन-जन का कल्याण करने. सारे भारत में लाखों लोगों ने इस ध्यान साधना में पककर अपना जीवन सफल बनाया और फिर भारत से सारे विश्व में फैली और पूज्य गुरूदेव ऊ बा खिन की धर्म कामना सफलीभूत हई।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻

गुरू नानक देव

युग-धर्म चेतना के उद्बोधक गुरू नानकदेव का जन्म 1526 की कार्तिक पूर्णिमा को पंजाब प्रान्त के तलबंडी ग्राम, जिसे अब ननकाना क़हते है, में हुआ। उन्होंने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की धारा को नया मोड़ दिया था। देश की उस समय स्थिति यह थी कि तुर्क व मुगलों के आक्रमणों से देश जर्जरित होकर मृतप्राय सा हो गया था। पाखण्डवाद का बोलबाला था। पण्डे-पुजारी, मुल्ला-मौलवी, भोली जनता को धर्म के नाम पर गुमराह करके लूटकर नग्न कर रहे थे। गुरू नानक मुसलमानों के सांस्कृतिक आक्रमणों से हिन्दू धर्म को बचाने के लिए सरल बोलचाल की भाषा में जनता के ह्रदय में भगवद भक्ति को जागृत किया। नानक निर्गुण उपासना के प्रवर्तक थे वे सत्य के संरक्षक थे। कई लोग नानक को भारत का मार्टिन लूथर कहते थे। उन्होने धर्म सुधार का काम हाथ में लिया, लेकिन धर्म सुधार सही मायने में लोकतांत्रिक था। सामाजिक परम्परा की बेड़ियां जो धर्म के विरूद्ध आवाज उठाई, जातिगत भेदभाव का विरोध किया। ब्राह्मण कौन है, उसकी सही ढ़ंग से व्याख्या की: -

"ब्राह्मण जो ब्रह्म में रमण करे।" जो समाज से सबसे कम लेकर उसे अधिक से अधिक देवे। स्वयं को तपस, शुद्ध विचार और आदर्श जीवन जीकर अपने आपको सुपथ राह पर चलना सिखावे। ब्राह्मण मनुष्यता का सर्वोच्च सोपान है। वे मानते थे, जन्म से कोई ब्राह्मण या शूद्र नही होता। शूद्र भी ब्राह्मण का कर्म करे, शील सदाचार का जीवन जीवे तो वह ब्राहण है। ब्राह्मण घर में जन्म लेवे और नीच कर्म करे तो वह शूद्र है। वे मेल-मिलाप के मसीहा थे। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता पर बहुत काम किया, बहुत से मुसलमान उनके अनुयायी थे। आपके गूढ गुरूत्व से हिन्दु ही नही मुसलमान भाई भी बड़े प्रभावित थे। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आपके दो प्रमुख शिष्यों में से एक था मर्दाना जो मुसलमान था और दूसरा था बाला, वो जाति से जाट था। उनका जब देहान्त हुआ तो उनके पार्थिक शरीर को अपने-अपने तरीके से अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम शिष्य आपस में विवाद करने लगे तो कहते है, चादर के नीचे ढ़का उनका शरीर अंर्तध्यान हो गया। आधी चादर को हिन्दू और सिखों ने अग्नि संस्कार किया जब कि आधे वस्त्र को मुस्लिम समुदाय ने दफन कर संतोष किया।

गुरू नानक एकेश्वर वादी थे, एक "ओंकार" को मानते थे, उनका मानना था सारे जड़ चेतन "ओंकार" में व्याप्त है और ओंकार सारे जड़ चेतन में व्याप्त है। समाधि के बाद उन्होने पहला शब्द कहा था: "एक ओमकार सतिनामा" ओमकार ही सत्य है, सत्य ही ओमकार है।

किम सचियारा होइये, किम कूड़े (झूठ) तुटे पाल।
हुक्म रजाई चलना नानक लिखिया नाल॥

वे कहते थे कि सत्य नाम का व्यवहार ही लोक व्यवहार और जीवन-यापन में सच्चा सहायक सिद्ध हो सकता है। मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता इसी में है कि संसार में रहकर दीन-दुखियों की मदद करें, सत्य बोलें, दुश्चरित्र न बनें और जीवों पर दया करें। नानक देव ने मानव कल्याण हेतु "जियो और जीने दो" का सिद्धान्त बताया।

वे अद्वैतवादी थे, स्रष्टा और सृष्टि को उन्होंने दो नहीं माना, जैसे नृत्यकार और नृत्य दो नहीं हो सकते, दोनों संयुक्त है। नानक ने गृहस्थ को और सन्यासी को अलग नहीं किया। वे स्वयं गृहस्थ थे, गृहस्थ सन्यासी थे - उन्होने अपने जीवन में खूब यात्राएँ की । भारत ही नहीं भारत के बाहर - बगदाद, मक्का में काबा, लंका, तिब्बत, मिश्र, सूडान एवं हिमालय की यात्रा भी की। यात्राओं से लौटते ही फिर अपनी खेती बाड़ी में लग जाते थे। उन्होने अपनी गृहस्थी एवं अपने पारिवारिक काम धाम कभी नही छोड़ा। अंत में जिस गाँव में वे बस गये थे, उस गाँव का नाम उन्होंने करतार पुर रखा। याने कर्म करने का गाँव। नानक ने एक अनूठे ही धर्म को जन्म दिया, इस धर्म के सारे गुरु गृहस्थ ही हुये। याने वे गृहस्थ भी थे और सन्यासी भी थे। घर-गृहस्थी में रहते हुए ऐसे रहे जैसे किसी वन में हैं; अनासक्त भाव से काम करते थे। वे साधना अथवा ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वाह्य वैशाखी की आवश्यकता को नही मानते थे। मनुष्य को वेश से नही किन्तु आध्यात्मिक कर्मो से योगी बनना चाहिए। गुरू के जीवन, आचार और उपदेशों में बुद्ध के सिद्धान्तों का समावेश स्पष्ट दिखाई देता है। उनकी वाणी: "मन तू ज्योति स्वरूप अपना मूल पहिचान"।

गुरूनानक बारम्बार काजी, ब्राह्मण और योगी को सम्बोधित करते हुए कहा करते थे, "कांजी झूठ बोलकर हराम की कमाई खाता है। ब्राह्मण जीवों को दुख देकर तीर्थों में स्नान कराता घूमता है। योगी अन्धा है, उसे मुक्ति का पता नहीं है। समाज के वे तीनों पथ प्रदर्शक स्वयं अज्ञान के उजाड़ में पड़े हुए हैं । वास्तविक योगी वह है जो सांसारिक ऐश्वर्य पाने की लालसा से अपने अहंकार को मिटा देता है। वास्तविक ब्राह्मण तो ब्रह्म का विचार करता है।" गुरु ने बड़ी ही सूझबूझ से नास्तिकता को रोका और समयानुकूल पूजा को संशोधित ढ़ंग से प्रचलित किया था। गुरु नानक ने कहा था, "जो कोई मांस मछली खाता है, उसके तमाम पुण्य नष्ट हो जाते हैं। एक बार यात्रा करते हुए गुरू नानक अपने शिष्य मर्दाना के साथ मुलतान पहुँचे। वे शहर के बाहर ही इसी आशा में ठहरे कि शहर के पीर, फकीर कोई भी उन्हें अन्दर आने हेतु आमंत्रित करेगा। वहाँ के पीर फकीरों ने उनके पास दूध से भरा पात्र भिजवाया। इसका तात्पर्य था कि इस पात्र के समान यह शहर पहले से ही पीर-फकीरों से ठसाठस भरा हुआ है। अतः अन्य संत के धर्मोपदेश की आवश्यकता नहीं है। गुरू ने उत्तर के रूप में दूध के कटोरे पर दो फूल चमेली के डालकर वह पात्र उन्हें लौटा दिया। इसका मतलब था कि नगर के पीर व फकीर चाहे तो वे दूध की सफेदी में चमेली के सफेद फूलों की भांति एक हो जायेगें। पीर फकीर उत्तर पाकर बहुत प्रभावित हुये, स्वयं जाकर उन्हें आदर सहित लाये और उनके धर्मोपदेश का प्रबंध किया।

गुरू नानक को मुसलमान "नानक शाह फकीर" सिख "गुरूनानक" और हिन्दू उन्हें "नानकदेव" कहते थे। इस तरह तीनों समुदाय उन्हें बहुत

आदर मान देते थे। कहते हैं एक बार जब वे अपनी दुकान पर तराजू से गेहूँ तौल कर किसी को दे रहे थे। तराजू में भरते और खरीदने वाले की चद्दर में डालते तो एक दो तीन गिनते-गिनते जब तेरह पर पहुँचे और जब तेरा कहा तो तेरा ही कहते चले गये, अर्ध समाधि में पहुँच कर तेरा की एक धुन बन गई। वे तौलते गये लेकिन संख्या तेरा से आगे नहीं बढ़ी। इसी तरह कहते हैं एक बार उन्होंने नदी में गोता लगाया तो तीन दिन बाद ही बाहर निकले, वहीं उनकी समाधि लग गई और मानव से महामानव बन गये।

गुरू नानक कवि थे, उनके गीत सीधे सादे थे, परन्तु बहुत से पदों का सही अर्थ साधारण जन समझ नहीं पाये। जैसे:

अगर फिर दोवुर रूए जॅमी अस्त।
हमी अस्तो, हमी अस्तो, हमी अस्त॥

जमीन पर स्वर्ग है, तो वह हिन्दुस्तान की जमीं पर है। यही कारण जो भी हमलावर यहाँ आया यहीं का हो गया।

वैद बुलाइया, वैदगी पकड़ि ढंढोले बाह ।
भोला वेद न जाणई, करक करेजे माहिं ॥

वैद जी मेरी बाँह पकड़कर क्या देख रहे हो, पीर पीड़ा तो मेरे दिल में है, मेरे कलेजे में।

तीन हाथ एक अड़ध्नाई, ऐसा अम्बर चीन्हो मेरे भाई, खोजो मेरे भाई।

भावार्थ: साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर जो अम्बर है, जो

अन्तरिक्ष है, जो सच्चाई है, उसकी खोज करो। बाहर-बाहर की खोज से कुछ मिलने बाला नही है। सत्य की खोज भीतर करनी शुरू कर दोगे, मुक्त अवस्था तक पहुँच जाओगे।

गुरू नानक की कविताओं में विशेषता है कि वे आनन्द के साथ-साथ अपने युग की सामाजिक सच्चाई से भी परिचित कराती हैं । उस समय की परिस्थितियों का उन्होंने गहराई से चिंतन किया था और जन साधारण को धर्म का एक नया रास्ता दिखाया था। उस समय के पंडित और मौलवियों ने नैतिकता, शील सदाचार पर ध्यान दिलाने के बजाय अपने-अपने सम्प्रदाय और उनके पैगम्बर पर भरोसा करने पर जोर दिया करते थे कि उनके धर्म को मानोगे तो ईश्वर या पैगम्बर उन्हें दुखों से बचा लेगें और उनके द्वारा ही उन्हें स्वर्ग मिल जायेगा।

गुरू नानक ने इन विचारों का खण्डन किया और बताया कि आचरणहीन व्यक्ति किसी एक खास धर्म के मानने से बच नहीं सकता। उसका यह जीवन भी दुखी होगा, अगला जन्म भी दुखमय होगा। जब तक व्यक्ति शील, सदाचार, नैतिकता का जीवन नही जियेगा उसका उद्धार नहीं हो सकता। नानक के हिन्दू और मुसलमान दोनों उनके उपासक और प्रेमी थे। दोनों से उन्हे प्रेम था। वे जानते थे एक खास वर्ग इनके मन में घृणा पैदा करके अपना स्वारथ साध रहा है। उन्होनें निरर्थक रूढ़ियों एवं कर्मकाण्डों का कबीर और रहीम की तरह खूब खण्डन किया। हिन्दू मुस्लिम में प्रेम बढ़ाने का प्रयत्न किया। सच्चा मानव धर्म एवं नैतिकता का जीवन जीने और ईश्वर अराधन पर जोर दिया। जिससे मनुष्य पवित्र

और महान बन सकता है। कबीर की तरह वे एकेश्वरवादी और निर्गुणवादी थे। उनकी सरल सुबोध भाषा थी जिसमें बृजभाषा, राजस्थानी और पंजाबी की छाप थी। अपने जीवन के 60 वर्ष में वे लगभग 25 वर्ष भारत एवं एशिया के विभिन्न भागों में भ्रमण किया, लोगों में मानवतावाद धार्मिक नव जागरण का बीज डाला। वे ऐसे लोगों की जो जीवन संघर्ष से डर कर साधु बन जाते थे, ऐसे त्यागवाद की निन्दा की और सामाजिक जीवन जीने पर जोर दिया। उन्होंने मनुष्य-मनुष्य में ऊँच-नीच के भेद भाव का कड़ा विरोध किया। उन्होंने लोगों को इस तरह कह कर समझाया कि "ईश्वर रूपी कुम्हार ने अनेक प्रकार के बर्तनों का निर्माण एक ही प्रकार की मिट्टी से किया है। याने ईश्वर ने मानव संरचना समान रूप से पाँच तत्वों से की है, तो फिर उनमें कोई छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच कैसे हुआ। उन्होंने कहा:"

माटी एक सकल संसारा, बहु विधि गढ़े कुम्हारा।
पंच तत्व मिल देही का अकारा, घट वध का क्यों
करे विचारा ॥

उनका कहना था: मानव-मानव एक है, मानव धर्म एक है, वह है शील सदाचार नैतिकता का जीवन। गुरू नानक ने अपने को सामान्य जन से जितना जोड़ा, उतना घनिष्ठ संबंध आम जनता से शायद ही किसी ने स्थापित किया हो। वे सच्चे लोक नायक थे। संत शिरोमणि गुरू नानकदेव के उपदेश थे:

करनी कागज है, मन मसि है, भले बुरे दो लेखं हो रहे अंकित

जैसे हमें चलाती कृति, हम चलते रहते। हे हरि। तेरे गुण अनन्त हैं, बावरे चित, तू क्यों नहीं चेतता? दिन है जाल, रात है जाली, जितनी घड़ियां उतने फंदे। आनन्दित हो चुगत-चुगता, फंसता जाता मूढ़, कौन सा गुण तुझमें, कैसे छूटेगा? काया भट्टी में मन-लोहा, पंच अग्नियां धधक रही हैं। पाप-कोयले पड़े है, उस पर मन जलता है। चिन्ता की सँडासी से पकड़ रहा है। लोहा भस्म हो गया, पुनः कंचन हो सकता है, यदि ऐसा गुरू मिले कि जो नामामृत देवे। नानक का है कथन-पियास मिटे देह की। गुरू नानक की स्वयं की खोज, स्वदर्शन पर लिखे दोहे:

"तीन हाथ एक अधड़ाई, ऐसा अम्बर खोजो मेरे भाई।"

साढ़े तीन हाथ की काया में ऐसा अम्बर खोजो

बाहर भीतर एको सचो, बाहर भीतर एको जानो।
जन नानक बिन आपा चिन्हे, कटे न भ्रम की काइ रे ॥

बाहर भीतर एक ही सत्य है, नानक जानकर कह रहा है, वह जान चुका है। जब तक स्वयं आपको देखे बिना, भीतर जाकर खोजे बिना, भ्रम बना ही रहता है, स्वयं को स्वयं देखने पर ही, सत्य का दर्शन होता है। भ्रम की काई कटती है।

सोचे, सोच ने होवे ही, जो सोचे लख बार
चुप्पे, चुप्प न होवे ही, जिन लयेर हाल अवतार
भुक्खे, भुक्खे न पाव ही...

चाहे जितना भी चिन्तन मनन करो, चाहे मौन साधकर बैठ जाओ,

चाहे भूखे रहकर देख लो, कुछ मिलने वाला नहीं है। तब क्या करें?

किम सचियारा होइये, किम कूड़े (झूठ) तुटे पाल
हुकम रजाई चल्लना, नानक लिखिया नाये।

झूठ की एक परत नही रह जाय अपनी अनुभूति पर क्या हो रहा है, चलते रहें। कुदरत का क्या कानून उसी के अनुसार चलने लगा।

* * * * *

संत सुकरात

यूनान के ज्योति-पुरूष सुकरात का जन्म बी.सी. 469 में एथेन्स नगर में हुआ था। एक बार सुकरात चमकती धूप में हाथ में लालटेन लिए बाजार से निकले, लोगों ने कहा सुकरात पागल हो गया है। किसी ने पूछ लिया, "क्या दूढ़ रहे हो बाबा?" फकीर ने कहा, "मैं इन्सानियत को दूढ़ रहा हूँ" सत्य है इन्सानियत, सच्चा इन्सान ढूँढ़ने से ही मिलता है। महान विभूति सुकरात के विचार थे: आत्मिक सौन्दर्य ही परम सत्य है।

"इसका सबसे बड़ा अपराध यही है कि यह नगर के देवी - देवताओं में अविश्वास प्रकट कर नवयुवकों को सत्य-शिक्षण के नाम पर गलत रास्ते पर ले जाता है। यूनान कीं संस्कृति और नागरिकता का यह सबसे बड़ा शत्रु है। इसे मृत्यु-दण्ड दिया जाये।" मेलिटस और उसके साथियों - अनीट्स और लीसन ने अभियोग लगाया। एथेंस वासियों की बहुत बड़ी संख्या न्यायालय के बाहर निर्णय की प्रतीक्षा कर रही थी। नाटककार एरिस्टॉफन ने अपने "क्लाउड" नामक नाटक में सुकरात को स्वर्ग-पाताल की बात जानने वाले और हवा में उड़ने वाले के रूप में

चित्रित कर यह सिद्ध कर दिया है कि यह जनता को सत्य और अनाचार का पाठ पढ़ाता है । मेलिटस ने उस पर अभियोग चलाकर हमारे देश का बड़ा उपकार किया है। अपराधी को विषपान के द्वारा मृत्यु-वरण का दण्ड दिया जाता है।

न्यायालय के इस निर्णय से उपस्थित नागरिक विक्षुब्ध हो उठे। सुकरात मौन था। उसे कारागार में डाल दिया गया। उनके मित्र एवं अनुयायी रोने लगे।

मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप अब भी अपने प्राण बचा सकते है। इस कारागार से निकल भागने में हम लोग आपकी पूरी-पूरी सहायता करेगें। क्रीटो ने सुकरात को समझाना आरम्भ किया।

तुम सत्य से अधिक कीमती और महत्वपूर्ण मृत्यु को समझते हो? क्रीटोः सत्य अमर और अविनश्वर ज्ञान है, वह शाश्वत प्रकाश है, उसे मृत्यु के अन्धकार से ढ़कना कदापि सम्भव नही है। सत्य की बलिवेदी पर प्राण चढ़ा देना ही मेरा कर्तव्य है । इससे न्याय का भाल उन्नत होगा। सत्तर वर्ष का बृद्ध सुकरात इस तरह क्रीटो को सदाचार की शिक्षा दे ही रहा था कि मृत्यु का समय आ पहुँचा।

न्यायपतियों के सेवक ने विष से भरा प्याला सुकरात के हाथ में रख दिया। समस्त वातावरण में विचित्र शोक परिव्याप्त था।

"अभी विष का समय नही आया है, सुकरात। दिन का कुछ अंश शेष है।" क्रीटो ने उस समय विष पीने से मना किया। उसका प्रश्न था कि अन्येष्टि क्रिया किस तरह सम्पन्न हो।

"अपने भीतर की चेतन आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो। यह ज्ञान ही

सर्वव्यापक सत्य है। अपने आपको पहचनो।

तुम शरीर नही, आत्मा हो, जो अमर है, चिरन्तन, शाश्वत और अक्षय है। मेरे भीतर स्थित आत्म सत्य को समझो क्रीटो! मृत्यु देह का नाश कर सकती है, आत्मा के राज्य में उसका प्रवेश नहीं है। प्राणान्त होने पर शरीर को समाधिस्थ कर देना। मेरी नयी यात्रा का शुभारम्भ हो रहा है। जब मैं मंजिल पर पहुँचूँगा तो परम लक्ष्य को पा लूगाँ, जिसके लिए मैं जिन्दगी भर प्रयत्नशील रहा हूँ। इसलिए मैं खुशी-खुशी अपने नये सफर को जा रहा हूँ ऐसा कहकर वे खुदा में वासिल (लीन) हो गये। सुकरात ने विष का प्याला होठों से लगा लिया। वह न्यायपति के आदेश के अनुसार टहल-टहल कर विष पी रहा था। उसके पैर लड़खड़ाने लगे। "तुम समझते होगे कि मैने तुम्हारी बात नही मानी और तत्काल विष पीना आरम्भ कर दिया। मैं सत्य के अमर लोक में प्रवेश करने में क्षणमात्र भी विलम्ब नही करना चाहता था। अब हम दोनो एक दूसरे से अलग हो रहे हैं। तुम जीवन की ओर जा रहे हो और मैं मरण-पथ पर हूँ। जीवन और मरण में कौन श्रेष्ठ है - इसका ज्ञान परमात्मा, केवल परमात्मा को ही है।"

सुकरात बहुत देर तक अपने आप को नहीं संभाल सका। क्रीटो की सहायता से वह भूमि पर लेट गया। आँखों के सामने अन्धकार था। क्रीटो ने उसके मुख को कपड़े से ढक दिया।

आत्मवादी सुकरात सत्य के लिए विषपान कर धरती पर अमर हो गया।

☼ ☼ ☼ ☼ ☼

स्वामी विवेकानन्द

भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव मजबूत हो जाने पर पश्चिमी संस्कृति और धर्म ने भारत की संस्कृति और धार्मिक आस्था पर जबरदस्त आक्रमण किया। इस समय भारतीय समाज में धर्म-विपरीत अनेक कुप्रथाएँ प्रचलित थीं और विधर्मी इन्हीं कुप्रथाओं को हिन्दू धर्म बताकर इस पर तीखा प्रहार करने लगे। इन लोगों को हिन्दू धर्म में दोषों के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दिया।

ऐसी स्थिति में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में भारत में अनेक महान समाज सुधारक अवतरित हुए। इनमें स्वामी विवेकानंद प्रमुख थे। इन्होने हिन्दू धर्म और संस्कृति की विशेषता और श्रेष्ठता को लोगों में उजागर किया। उन्होंने अपने प्रवचनों और साहित्य के द्वारा यह सिद्ध किया कि हिन्दू धर्म और संस्कृति संसार के अन्य धर्मों के समान ही श्रेष्ठ है। इसका आधार टकराव नहीं, अपितु मिलाप है। यह विश्वव्यापी अटल सिद्धान्तों पर आधारित है और यह सारे विश्व को एक सूत्र में बांध सकती है।

स्वामी विवेकानन्द जी का जन्म कलकत्ता के एक कायस्थ परिवार में 12 जनवरी 1863 को हुआ। इनके बचपन का नाम "नरेन्द्र" था। स्वामी विवेकानंद जी पर रामकृष्ण परमहंस जी का गहरा एवं स्थायी प्रभाव पड़ा और वे इनके परम प्रिय एवं सबसे अधिक प्रभावशाली शिष्य बन गये।

सात्विक जीवन, तपस्या के धनी स्वामी रामकृष्ण परमहंस के पास तपश्चर्या द्वारा अर्जित असीमित आध्यात्मिक सम्पदा थी, जो उनकी संचित आध्यात्मिक सम्पदा को भारतीय संस्कृति के प्रचार में लगा सकें, वे स्वयं देश-विदेश की यात्रा कर यह कार्य करने में असमर्थ थे। अस्तु उन्होंने योग्य शिष्य नरेन्द्र में यह गुण पाये, उन्होंने अपने जीवन भर के ज्ञान, तपस्या में उन्हें पारंगत करके उसे आज्ञा दी कि तुम इसे विश्व कल्याण एवं भारतीय संस्कृति के प्रचार प्रसार में लगाओ। अपने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य करके, लगन के धनी सतत कर्मशील श्री नरेन्द्र भारत धर्म की ज्योति जगाने निकल पड़े। उनका संदेश था - "नर में नारायण की सेवा करना ही युग धर्म है" और यही रास्ता है अपने स्वयं के तथा औरों के कल्याण का। "आत्ममन्तो मोक्षार्थाय जग हिताय च।" उन्होने एक मुसलमान अनुयायी सरफराज खान को एक पत्र लिखा कि "उसको स्पष्ट" दिख रहा है कि भविष्य का भारत हिन्दू और मुसलमान "वैदान्तिक मस्तिष्क एवं इस्लामिक शरीर" के परस्पर सहयोग से उठेगा। अगामी 50 वर्षो के लिए हमारा केवल एक ही विचार केन्द्र होगा - "हमारी मातृभूमि महान"। दूसरे सब व्यर्थ के देवी-देवताओं को उस समय तक के लिए हमारे मन से लुप्त हो जाने दो। हमारा भारत, हमारा राष्ट्र यही एक देवता है, जो जग रहा

है, जिसके हाथ, पैर सब वस्तुओं में व्याप्त हैं। "जन साधारण रूपी देवता, उस विराट की पूजा क्यों न करें, जिसे हम चारों ओर देख रहे हैं। उनका कहना था - भविष्य में जो भी धर्म उत्पन्न होंगे, मानव को विकसित करने के लिए, उसके दिव्य स्वरूप को उजागर करने के लिए। मैं उन सबके लिए अपने ह्दय के द्वार खुले रखता हूँ।

उनकी मान्यता थी सृष्टि को धारण करने वाले, सकल पदार्थो में व्याप्त और वस्तु मात्र में अनुस्युत एक ऋत है और चंचल जीवन-प्रवाह में स्थिर एक बिन्दु है। स्वामी विवेकानन्द ने निसंदिग्ध शब्दों में यह लक्ष्य अपने सन्यासी संगठन के समक्ष रखा-जीवित ईश्वर साक्षात ईश्वर की समस्त आत्माओं में विराजमान विराट पुरूष की उपासना करो। ईश्वर को खोजने के लिए अंधेरे कोने में मत जाओ। ईश्वर तो तुम्हारे सामने ही कोटि-कोटि रूप धारण करके खडा है। ईश्वर का सच्चा प्रेमी वही है जो उसकी सृष्टि से प्रेम करता है। पूजा पाठ का यह ताक झाँक किनारे रख दो। धर्म ग्रंथों में दिये गये आध्यात्मिक सत्यों के प्रति श्रद्धा को स्वानुभूति एवं अर्न्तप्रज्ञा से पुष्टि करना होता है। अर्न्तप्रज्ञा भी विश्वजनीनता एवं निश्चितता की, बुद्धि संगत की, बुद्धि संगत आवश्यकताओं के अनुरूप सिद्ध होनी चाहिए। वस्तुतः तर्कबुद्धि ही श्रद्धा एवं अंतेर्प्रज्ञा के बीच मध्यस्थता का कार्य करती है। वही एक ओर श्रुतज्ञान को अनुभवगम्य बनाती है, दूसरी ओर अंतेर्प्रज्ञा को बुद्धिगम्य करती है।

केवल भोजन कहने से पेट नहीं भरता, पानी-पानी चिल्लाने से प्यास नही मिटती। इसके लिए भोजन करना होता है, पानी पीना होता है। इसीं तरह ईश्वर कह कर कीर्तन करने से ईश्वर की उपलब्धि नही हो

सकती, उसको जानने और पाने के लिए तपस्या साधना करनी होती है।

स्वामी विवेकानन्दजी को महाराज अजीत सिंह खेतड़ी के राजा ने अमेरिका के शिकागो धर्म सम्मेलन में भिजवाया था। उनका नाम नरेन्द्र था, महाराज अजीत सिंह ने उनका नया नामकरण "विवेकानन्द" दिया। शिकागो धर्म सम्मेलन 1893 में हुई थी, उनके जाने का सारा खर्चा महाराज ने प्रबन्ध किया । इसके पहले उन्हे शिक्षा, दीक्षा के सारे अवसर उपलब्ध कराये गये, भगवा वस्त्र पहनाकर उन्हें महान योगी बना कर भेजा गया । खेतड़ी का यह योगदान ऐतिहासिक महत्व रखता है।

परम गुरू परमहंस रामकृष्ण के तत्वज्ञानी शिष्य विवेकानन्द सब धर्मो के गूढ़ रहस्य को जानते थे। उनका अति उदार धार्मिक दृष्टिकोण हमें जोड़ता है, तोड़ता नहीं। "ध्यान अभ्यास" के लिए उनके विचार थे - "An Ounce of practice is worth, more than tons of preaching".

* * * * *

महर्षि महेश योगी

महेश योगी गुरू प्रभुपाद के शिष्य हैं। उनकी भावातीत, ध्यान व साधना का प्रचार-प्रसार भारत में ही नही विदेशों में भी काफी प्रचलित हुआ। सभी सम्प्रदाय, सभी देशों के लोग उन्हें अपना गुरू मानते हैं, बड़ी संख्या में उनके विदेशी शिष्य हैं।

अपने आप में स्थित हो गाती है, उनके विचार : जब चेतना में कोई हलचल नही रहती है, तब उसी को कहते हैं चेतना सम हो गई। चेतना में समत्व आ गया। समाधि अवस्था में चेतना शांत हो जाती हैं। इसी अवस्था को भावातीत चेतना कहते हैं। जब तक चेतना क्रियाशीलता के क्षेत्र में जाने का भाव रहता है, तब तक उसको ध्यान कहेगें। भावातीत ध्यान के द्वारा क्रियाशील चेतना निष्क्रिय चेतना बन जाती है। निष्क्रिय चेतना की अनन्त अगाध शांत स्थिति चेतना की क्रियाशीलता से बनी रहती है। जब क्रिया के क्षेत्र में भीतर से अखण्ड, अनन्त शांत बनी रहती है तब फिर चेतना का वह अंग जो अनन्त अखण्डता को लिए हुए है, वह अपनी चेतना के स्पंदनों का दृष्टा होता है। जब तक हमारी चेतना में

पूर्णता की प्राप्ति नही, तब तक हमारे पदार्थ के मूल्यांकन में पूर्ण उभार नही। जगत का स्वरूप, उसकी पूर्णता का अनुभव, चेतना का पूर्णरूप से सजीव होने में ही है।

आत्म चेतना जब व्यवहार में आने लगती है तो व्यवहार बड़ा मधुर होने लगता है। हर स्तर में अच्छा होने लगता है। भावातीत ध्यान के नियमित अभ्यास से ऐसा होते-होते वह पक्का हो जाता है। फिर हमको भाव की सूक्ष्मता को लेकर परा में जाने की आवश्यकता नही पड़ती। भावातीत ध्यान से हम अपनी चेतना को मूल से सम्बन्धित करते हैं। हम अपने जीवन की हवेली को गहरी नींव देते हैं। मन को एकाग्र करना बहुत कठिन नही है। समुद्रतल में उत्पन्न हुआ वायु का बुलबुला जैसे-जैसे ऊपर आता जाता है, वैसे बड़ा होता जाता है। सतह पर आकर वह दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार किसी विचार का आरम्भ चेतना की अंतरतम गहरायी में होता है, जब यह चेतन मन की सतह पर आता है, तब हमें उस विचार अथवा भाव का अनुभव होता है। ध्यान के अभ्यास के द्वारा हमारा चेतन मन, भाव की सूक्ष्म गति, सूक्ष्म स्थितियों को अनुभव कर अंतर की गहराइयों को पार करता, भावातीत विशुद्ध चेतना का आकार ले लेता है। यह विशुद्ध चेतना ही ज्ञान, शक्ति आनन्द का आधार है। अनन्त शक्ति के केन्द्र से जब मन बाहर आता है तब अधिक चेतन और ज्ञानवान होकर व्यवहार करता है। हर तरह की कमजोरियाँ दूर हो जाती हैं, शरीर स्वस्थ्य स्वाभाविक रूप से ठीक हो जाता है और आलस्य एवं दुर्गुणों से सहज रूप से मुक्ति मिल जाती है। यदि प्रत्येक मनुष्य शाम सबेरे इस ध्यान शैली को करने लगे तो उसके जीवन में अशान्ति, चिन्ता

और दुख: की समाप्ति हो जाती है। जैसे-जैसे मन भाव के सूक्ष्म स्तरों में जाता है, वैसे-वैसे साँसें धीमी पड़ने लगती हैं। शरीर यंत्र भीतर से आराम पाने लगता है। थोड़ी ही देर में इतनी ताजगी आ जाती है कि उसका प्रभाव कई घण्टों तक मन और शरीर पर बना रहता है। जर्मनी के डूसलड़ार्फ नगर के ध्यान केन्द्र में डाक्टरों द्वारा किए गये प्रयोगों के आधार पर सिद्ध हो गया कि इस ध्यान से दुर्बल ह्रदय वाले मनुष्यों की अव्यस्थित ह्रदय गति व्यवस्थित हो जाती है। मानसिक तनाव दूर होता है - इससे कई असाध्य रोगों का समूल नाश हो जाता है। मंत्र के निरंतर जाप से एक विशेष प्रकार का स्पंदन होता है और धीरे-धीरे मनुष्य नैतिक जगत से हटकर अपने अंतर में निहित चेतना से सम्पर्क करने लगता है।

महर्षि महेश योगी ने स्वयं अपने गुरू के सान्निध्य में हिमालय पर्वत के धर्म स्थान में खूब तपस्या की। उसके उपरान्त गुरू आज्ञा से ध्यान-साधना को लोगों में वितरण करने निकले। धर्म और तपस्या साधना पर उनके भारत में जगह-जगह प्रवचन होते थे। बड़ी संख्या में लोग उनके प्रवचन सुनने एकत्रित होते थे। प्रवचन के बाद वे ध्यान साधना की दीक्षा देते थे। भारत में ध्यान-साधना के प्रचार के बाद वे इसका प्रसार एवं विकास करने विदेशों में गये, विशेष करके उनकी अमेरिका की यात्रा बहुत सफल रही। अमेरिका निवासी यह सुनते थे कि भारत में लोग ध्यान-साधना करके अपना जीवन सुधारते हैं। इससे मनुष्य जीवन में आये तनावों से मुक्ति मिलती है। श्री महेश योगी पहले गुरू थे जो ध्यान साधना का अभ्यास कराने उनके देश पहुँचे। वहाँ के उद्योगपति, व्यापारी वर्ग के धनाढ़य लोग उनके शिष्य बने और उन्हें गुरू दक्षिणा के रूप में इतना धन मिलने लगा कि उन्होंने वहाँ कई जगह स्थायी आश्रम खोला

और बेशुमार धन भारत भेजते रहे। कई वर्षों तक विदेशों में ध्यान साधना का प्रचार करके जब भारत लौटे तो अपने निजी लघु विमान से कुछ स्थानों में जहाँ बड़ी मात्रा में उनके शिष्य थे, गये उनके साथ उनके कई विदेशी सेक्रेटरी और सहायक साथ रहते थे। कुछ समय बाद दिल्ली से कुछ मील दूर बहुत बड़ा स्थान खरीदकर अपना आश्रम बनाया। वह स्थान (गाँव) महर्षि नगर से विख्यात हुआ और जहाँ वे अपने नये पुराने शिष्यों को ध्यान साधना का अभ्यास कराते हैं। ध्यान साधना के साथ साथ उन्होंने अमेरिका और भारत के आश्रम महर्षि नगर में Maharishi Institute of Management" के नाम से एक विशाल महाविद्यालय का निर्माण किया जो भारत सरकार से मान्य है जिसमें एम.बी.ए., बी.एस., एम.एस. अमेरिकन डिग्री दी जाती है।

☼ ☼ ☼ ☼ ☼

श्री महर्षि अरविन्द

श्री महर्षि अरविन्द का जन्म 1872 में 15 अगस्त को हुआ था। इनके पिता श्रीयुत कृष्णधन घोष थे, हुगली जिले के कोन्नगर गांव में प्रतिष्ठित घराने में इनका जन्म हुआ। डाक्टरी पढ़ने के बाद स्कॉटलैंड से एम.डी. की उपाधि लेकर भारत लौटे। यहाँ के हास्पिटल में सिविल सर्जन के रूप में काम किया। साथ ही साथ ये क्रांतिकारी दल के साथ मिले हुए थे। उन्हें सलाह मशविरा देते रहते थे।

उनके आध्यात्मिक विचार -

वेदो के बारे में श्री अरविन्द जी के विचार कितने अर्थपूर्ण हैं - देखें: अन्य विद्वानों की मान्यता है, वेदों की सृष्टि यज्ञ के लिए ही हुई है। श्री अरविन्द जी की मान्यता है - वेदों में वर्णित यज्ञ, नख से शिख तक अपने सभी अंगोपांगों सहित एक प्रतीकात्मक यज्ञ है। वह प्रधान तथा आंतरिक है न कि बाह्य। वेदोक्त यज्ञ के सभी अंग हमारे अन्दर ही हैं। मनुष्य के अन्दर ही हैं अग्नि और अन्दर ही है वेदी, हवि और होता।

अन्दर ही हैं ऋषि, मंत्र, देवता। हमारे अन्दर ही होता है. यज्ञ के प्रधान पुरोहित ब्रह्मा का वेद ज्ञान। इसके साथ ही हमारे अन्दर ही बैठे हैं देव, द्वेषी, दैत्य और अन्दर ही है अन्धकार रूप, वृत्र और अन्दर ही बैठे है है वृत्र का बध करने वाले प्रकाशाधिपति इन्द्र।

हमारा जीव ही - हमारी आत्मा ही इस अर्न्तयज्ञ का यजमान है, यजमान का हृदय ही वेदी है। हृदय में स्थित दिव्य संकल्पाग्नि अथवा अभिप्सा की अग्नि ही पुरोहित है। जीव की देह, प्राण और मन तीन प्रमुख समिधायें हैं, जो शुरू-शुरू में डाली जाती हैं और उसकी सत्ता के अन्य अंगोपांग भी नानाविध समिधाए हैं। मन की बुद्धि की निर्मलता और उनकी प्रकाश युक्त अवस्था ही घी है। देह प्राण और मन की ज्ञान अवस्थायें भाव, भावनाएं और वृत्तियां, अवृत्तियां ही हवि हैं। यह सब कार्य सत्य को खोजने और प्रकट करने के लिए है। यह अर्न्तयज्ञ वेदों की भाषा में एक यात्रा है, उर्ध्वरोहण-रूपी यात्रा है। देवत्व प्राप्ति के लिए की जाने वाली तीर्थ यात्रा है, और यह यात्रा युद्धमय भी है, क्यों कि इसमें अंधकार की शक्तियों के साथ प्रचंड संग्राम करना होता है। जो व्यक्ति ध्यान साधना करते हैं, विशेष करके 10-20-30 दिन निरन्तर ध्यान करते हैं, उनको श्री अरविन्दजी के बताये अर्थ खूब अच्छी तरह समझ में आ जायेगें। 05.05.1908 को उन्हें गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया। जेल में श्री अरविन्द को बिल्कुल एकांत मिला, वे ध्यान साधना में लीन हो गये। गीता उपनिषद का अध्ययन और योग साधना ही उनकी दिनचर्या थी। उनके लिए जेल, जेल न रहा, वह उनकी साधना का मन्दिर बन गया था, वे एक साल जेल में रहे। छूटने पर "क़र्मयोगी" और "धर्म" का

सम्पादन चन्दर नगर में रहकर करते रहे। वहाँ वे प्रायः ध्यान में समाधिस्थ रहते। सिस्टर निवेदिता की सलाह से वे पांडिचेरी आ गये। पांडिचेरी उनकी तपस्या की भूमि बनी। श्री माता जी का जन्म फ्रांस में 1878 मे हुआ था। धर्म उन्हें खींचकर पांडिचेरी लाया और वह श्री अरविन्द जी की मुख्य शिष्या हो गयीं। सायं 5 बजे नित्य अरविन्दजी अपने शिष्यों के साथ ध्यान साधना करते थे। 1926 ई० में श्री अरविन्द जी एकांत में चले गये। कष्टों को सहते हुए, वे अपनी ध्यान तपस्या में लीन रहे। 4 दिसम्बर 1965 में 93 वर्ष की आयु में उन्होंने अपने शरीर का त्याग कर दिया।

अरविन्द वाणी-

यह भयानक विरोधी वाणी प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति में सदैव विद्यमान रहती है और प्रश्न उठाती है, तर्क करती है, अनुभव तक को अस्वीकार कर देती है। यही नहीं मनुष्य के अपने विषय में एवं भगवान के विषय में शंका संदेह व्यक्त करती है। इसे उस विरोधी शक्ति की वाणी समझनी चाहिए, जो साधना की प्रगति को रोकने की चेष्टा करती है और एक दम उस पर विश्वास करने से इन्कार कर देना चाहिए।

1. श्री अरविन्द के अनुसार, "हमें" उन सभी बातों व तत्वों पर आक्रमण करने में निश्चय ही चूकना नही चाहिए जो हमारे राष्ट्र के विकास में बाधक हैं और उनके साथ जैसे के तैसा व्यवहार करने में भी किसी प्रकार की कमी नही करना चाहिए"। गम्भीर राजनैतिक विषयों में अंत्यधिक विनम्रता कभी सफल सिद्ध नहीं होती और न यहाँ

होगी ही। व्यक्तियों को सम्मान देते समय सच्चाई और आत्मा की आवाज को वरीयता देनी चाहिए। भारत को विशेषकर आज के समय में अक्रामक मनोवृत्तियों, तेजस्वी आदर्शवाद की भावनाओं, साहसिक निर्णयों, निडर प्रतिरोधों और कठोर आक्रमणों की आवश्यकता है क्योंकि तामसी अकर्मण्यता के परिणामों को तो हम काफी भुगत चुके हैं।

श्री अरविन्द के उपरोक्त शब्द आज के समय के लिए सार्थक एवं प्रासंगिक है उन्होने कहा कि "एक वर्ग विशेष के लोग आक्रामक निर्णय लेने में कतराते हैं मानो ऐसा करना कोई पाप हो।" उनकी मानसिकता उन्हें युद्ध की प्रसन्नता अनुभव कराने से रोकती है और वे देखते ही रहते हैं, जिसे वे समझ ही नही सकते हों, मानो वह कोई दानव या पाप हो। उनके लिए गीता सर्वोत्तम उदाहरण है जो कि युद्ध को पाप और आक्रमण को नैतिकता का पतन मानकर घबराते हैं। आज अगर हिन्दुत्व की लहर जाग रही है, लोगों का अपने धर्म के प्रति समर्पण जाग रहा है तो यह हमारे लिए गौरव का विषय है बशर्ते इसका उपयोग क्षुद्र राजनीति तक सीमित न रहे।

2. पर जो हो, भागवत शक्ति पीछे की ओर निरंतर कार्य कर रही है और एक दिन, जब कोई इसकी शायद ही आशा करता है, बाधाएँ भंग हो जाती हैं बादल विलीन हो जाते है और फिर से प्रकाश और धूप छा जाती है। ऐसे समय में सबसे अंतिम बात, यदि कोई कर सके तो यह करने की है कि उद्विग्न ना हुआ जाय, हतोत्साह

न हुआ जाय, बल्कि चुपचाप अड़े रहा जाय और अपने को उद्घाटित रखा जाय, दिव्य ज्योति से अपने को फैलाये रखा जाय और विश्वास के साथ उसके आने की प्रतीक्षा की जाय। यही चीजें मैनें देखी हैं कि इन अग्नि परीक्षाओं को हल्का बना देती हैं।

3. The future of earth depends of consciousness. The only hope for the future is in a change of man's consciousness, and the change is bound to come. But it is left to men to decide if they will collaborate for this change or it will have to be enforced upon them by the power of crashing circumstances.

श्री अरविन्द जी के अनुसार - "वेद"

यह शब्द ' विद् ' धातु से बना है, इसका अर्थ "होना", "जानना" और प्राप्त करना "ज्ञान"। इसका यह भी अर्थ है, ध्यान करते हुए "वेदना" की अनुभूति, उसके उद्गम ओर निर्झरा के ज्ञान को प्राप्त करना। वेद दिव्यवाणी है, जो अनन्त से निकलकर स्पंदन करती हुई, उन ऋषियों के अन्तः स्त्रोत में पहुँची, जो ध्यान साधना की ऊँची अवस्था में पहुँचे हुए थे। मनुष्य जब अंतर्मुखी होकर "स्वरूप" को पहचानने का काम शुरू कर देता है, तब कली के रूप में विद्यमान कमल की एक-एक पांखुड़ी खुलनी शुरू हो जाती है और शनैः शनैः प्रज्ञा में स्थित हो जाती है।

❊ ❊ ❊ ❊ ❊

स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द का जन्म गुजरात के टंकारा नगर में श्री कृष्णजी तिवारी के घर फाल्गुन कृष्ण दसवीं 1881 के दिन हुआ। उनका बाल्यकाल का नाम मूल शंकर रखा गया था। आपने आर्य समाज की स्थापना की। आर्य अर्थात जिसने स्वधर्म को जान लिया, जो सभ्य हो गया, धर्म के सही रूप को मानने लगा ऐसे लोगों का समाज याने आर्य समाज। इस आन्दोलन ने सामाजिक, धार्मिक, रूढ़ियों, रीति रिवाजों में सुधार लाया। मानव की अहित वाली रूढ़ियों के विरोध में आन्दोलन छेड़ा। जातिप्रथा के बंधन कुछ ठीक हुए, वेदों पर ब्राह्मणों के एकाधिकार समाप्त हुए, महिलाओं को ऊपर उठाने और समाज में बराबर स्थान देने पर जोर दिया गया। इसके अतिरिक्त शिक्षा प्रसार पर खूब जोर दिया गया। भारत और भारत के बाहर जहाँ भी भारतीय रहते थे, डी.ए.वी. स्कूल खुला, वैदिक धर्म के साथ शिक्षा का खूब प्रचार हुआ।

आपकी जीवन चर्या यह है: आठ वर्ष का होने पर यज्ञोपवीत संस्कार एवं वेद पाठ का अभ्यास कराया गया। पिता ने उसे शैवमतानुयायी

बनाने के लिए उन्हें पार्थिव पूजा की विधि सिखाई, उसे शिव-पूजा, जागरण आदि के लिए विवश करते रहे। 14 वर्ष की अवस्था में शिवरात्रि के दिन उन्हें व्रत उपवास रखने और रात्रि जागरण के लिए प्रलोभन दिया कि शंकर का रात्रि को दर्शन मिलेगें। वे पूरी तैयारी के साथ रात्रि जागरण में लग गये। पिता सहित सभी भक्त व पुजारी सो गये। मूलशंकर को तो भगवान के दर्शन करना था, वे जागते रहे, परन्तु उन्होनें देखा चूहे शंकर की पिण्डी पर उत्पात मचा रहे हैं। उन्हे लगा यह सब ढ़कोसला है - जो शिवलिंग अपनी रक्षा नहीं कर सकता, भक्तों की रक्षा क्या करेगा। उन्होंने निश्चय कर लिया कि उन्हें सच्चे शंकर के दर्शन करने हैं। दो वर्ष के बाद बहिन की मृत्यु, फिर तीन वर्ष बाद विद्वान चाचा की मृत्यु हो गयी। उन्हें इस मृत्यु से सांसारिक संबंध की निस्सारता का बोध हुआ। इस बोधत्रयी ने मूलशंकर को ईश्वर, जीव और प्रकृति रूपी त्रयी विद्या की और प्रेरित कर दिया था। पिता को भान हो गया कि यह कहीं गृह त्याग नहीं करे, बिना पूछे ही विवाह की तैयारी शुरू कर दी। मूलशंकर गृहस्थी के चक्कर से छुटकारा पाने के लिए घर से निकल गये और गुरुवर विरजानंद से दीक्षा ली। उन्होंने वेदों की समीक्षा प्रदान की और वे वेद प्रचार हेतु गुरु से आर्शीवाद ले निकल पड़े। वे वेदों के विरूद्ध सभी शास्त्रार्थों में उत्तीर्ण हुए और वेदों की महिमा को सर्वत्र स्थापित किया। उनके बढ़ते वर्चस्व, उच्च पादरियों द्वारा उनके प्रति सम्मान तथा सर सैय्यद अहमद खां जैसे व्यक्तियों के ह्दय में उनके प्रति प्रेम भावना को देखकर अनेक कट्टर हिन्दू पंडे पुजारी उनसे चिढ़ने लगे ओर उनके प्रति अनर्गल प्रलाप करने लगे थे। वे इन सब की ओर ध्यान दिये बिना

अपने प्रचार पथ पर आरूढ़ रहे। उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, सत्यार्थ प्रकाश एवं वेद भाष्य लिखा, प्रचार किया कि कोई इससे वंचित न रह जाय। मूलशंकर महर्षि बनकर विश्व व्यापी हो गये, उन्होंने विश्व को वेदार्थ का अमूल्य उपहार दिया। "सत्यार्थ प्रकाश" हिन्दू धर्म का आध्यात्मिक ग्रंथ ही नहीं है, इसमें प्रजा व प्रशासन दोनों के कर्तव्यों का उल्लेख भी किया गया है। इस महान ग्रंथ को यदि मानव की आचार संहिता कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा।

स्वामी दयानन्दजी ने कहा - "आज इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्य धार्मिक बने, नैतिक बने, दयालु बने, उदार बने। प्रकृति ने हमें पर्याप्त मात्रा में भोजन सामग्री दी है। मनुष्य को शाकाहारी होना चाहिए। शाकाहारी हो जाने से पशु पक्षियों, जीव जन्तुओं का बध नही होगा। प्रकृति में जितने भी पशु-पक्षी या अन्य प्राणी है, वे अकारण नहीं है, उन सबका महत्व है। सब को जीने का अधिकार है। हम कौन होते हैं उनके जीवन को समाप्त करने वाले? जब हम कुछ बना नहीं सकते तो किस आधार पर हमें किसी दूसरी वस्तु को समाप्त करने का अधिकार मिल जाता है। शाकाहार इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि मनुष्य उससे सात्विक विचारों वाला बनता है। महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रंथों में साफ कहा कि मनुष्य का भोजन सात्विक, शुद्ध, पवित्र आदि गुणों से भरपूर होना चाहिए।

पुरुषार्थी दयानन्द अनेक योगियों से सम्पर्क कर योग की उच्चतम समाधि को प्राप्त करते हैं। योगी ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि

प्रमुख रूप से उनके योग गुरू थे। गुजरात से हिमालय तक की दुर्गम यात्रा स्वामी को योगारूढ़ तो कर सकी परन्तु ज्ञार्नाजन की पिपासा उन्हें बेचैन कर रही थी। हिमालय से लौटते हुए उन्हें स्वनाम विख्यात, व्याकरण के सूर्य, प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द का पता लगता है। स्वामीजी तुरन्त उनसे मिलने मथुरा पहुँचते हैं। अन्ध गुरु, आर्ष ग्रन्थों का विधिवत अध्ययन कराते हैं। पाणिनी कृत अष्टाध्यायी व्याकरण सहित वेद, वेदांगों की शिक्षा वे पूर्ण मनोयोग से तीन वर्ष में पूरी कर लेते हैं। गुरु दक्षिणा में गुरुदेव उन्हें वेदों के प्रचार-प्रसार में जीवन लगाने की आज्ञा देते हैं। दयानन्द गुरू आज्ञा को राष्ट्रहित में समझकर समाज सेवा में लग जाते हैं।

हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर स्वामीजी पाखण्ड खण्डिनी पताका गाड़ देते हैं। उनका प्रहार वेद विरूद्ध समस्त धार्मिक कुरीतियों जैसे मूर्तिपूजा, गरूड़म, मृतक श्राद्ध, बहुदेवतावाद आदि पर था। स्वामीजी शास्त्रार्थ, प्रवचन, भाषण, उपदेश एवं शंका समाधान आदि विविध प्रकार से वेदों के सत्य की स्थापना एवं शाश्वत शिक्षाओं को प्रकाशित करने लगे। हरिद्वार के बाद स्वामीजी स्थान-स्थान पर घूम कर वेदों की स्थापना और पाखण्ड-खण्डन पूरे वेग से करने लगे। स्वामीजी स्वयं की स्थापना हेतु पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित करते थे। लगभग तीन सौ पंडित, हजारो श्रोता और स्वयं काशी नरेश शास्त्रार्थ में उपस्थित हुए। शास्त्रार्थ करते हुए स्वामीजी ने प्रश्न किया "वेदों में मूर्तिपूजा कहाँ है?" पण्डित एक दूसरे का मुँह देखने लगे, सन्नाटा छा गया। बाद में एक पण्डित ने कहा मूर्तिपूजा वेदों में तो नहीं है, उसमें तपस्या को महत्व दिया है, परन्तु मूर्तिपूजा का निषेध भी नहीं है। स्वामीजी ने तुरन्त यजुर्वेद

का मंत्र "न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महाधशः" उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया। पंडितों ने मान लिया कि मूर्तिपूजा वेद विरूद्ध एवं निषिद्ध है। उन्होने सैद्धान्तिक हार स्वीकार कर ली परन्तु अहंकार को ठेस लगने, साथ ही रोजी रोटी में संकट पड़ा देखकर उन्हें ईश्वर विरोधी कहकर अपशब्द कहने लगे, उन पर धूल फेंकी। काशी शास्त्रार्थ स्वामीजी के प्रचार कार्य में वरदान साबित हुआ। भद्र पुरूषों के आग्रह पर स्वामीजी मुम्बई में 1875 ई. में आर्य समाज की स्थापना करते हैं।

स्वामीजी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने भारतीय संस्कृति और धर्म का यथार्थ स्वरूप विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। उसी यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश सहित लगभग 25 अद्वितीय पुस्तकों की रचना की। उनका कहना था, वेदों को पढ़ने का अधिकार स्त्री, शूद्र सहित सभी को है। देशी रियासतों को एक जुट रहने का उपदेश देकर स्वामीजी ने धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक एकता का सूत्रपात कर राष्ट्रीय एकता की नींव रखी। उनके विचार थे हिन्दी द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है। स्वामीजी सत्य की स्थापना खण्डन मण्डन द्वारा करते थे, ताकि अल्प समय में सदियों से चला आ रहा अन्धविश्वास नष्ट हो सके। उनके द्वारा पुनर्जागरण, धर्मोद्धार, स्त्री शिक्षा, गुरूकुलों की स्थापना, गौरक्षा, शुद्धि आन्दोलन ने राष्ट्र को नव जीवन दिया। स्वामीजी अपने जीवन में अनेक देशी राजाओं के आमंत्रण पर पहुँचे। निर्भयता से उनके दोष दूर करते थे। जोधपुर के राजा स्वामीजी के आने की सूचना पर आनन फानन में वेश्या नर्तकी की पालकी को (कहार के अभाव में) स्वयं कंधा लगा देते हैं। स्वामी दुखी होकर कठोर

उपदेश देते हैं। राजा इस कृत्य के लिए क्षमा मांगते हैं परन्तु नर्तकी ईर्ष्यावश स्वामीजी को उनके रसोइये को धन देकर उसके द्वारा दूध में जहर मिलाकर पिलवा देती है। 30 अक्टूबर 1883 की सन्ध्या को ईश्वर का ध्यान करते हुए उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। इस महान विभूति के ज्ञान प्रकाश से भारत वंचित रह गया।

※ ※ ※ ※ ※

महान चिन्तक जे. कृष्णमूर्ति

महान चिन्तक जे. कृष्णमूर्ति मद्रास की थियोसाफिकल सोसायटी में श्रीमती एनीबेसेन्ट के शिष्य थे। वे कई वर्षों तक उनके सानिन्ध्य में ध्यान साधन करते रहे। वे अमेरिका में धर्म प्रचार के लिए गये, और वहीं बस गये। वर्ष में एक बार भारत आते थे और उनके प्रवचन बम्बई-बनारस और मद्रास में कई दिनों तक चलते। उनके श्रोता प्रायः बहुत विद्वान लोग ही होते थे।

वे बार-बार जोर देकर अपने प्रवचनों में कहते-आडम्बर, रीतिरिवाज, धार्मिक संकीर्णताओं आदि से ऊपर उठकर हम सत्य को स्वावलम्बी रूप से अनुभूत करें। गुरू मात्र रास्ता दिखा सकता है दरिया तक जाने का, लेकिन उसके बाद गोता तो साधक को खुद ही लगाना पड़ेगा। गहरे पानी में पैठकर, खोजकर मोती पाने के लिए, उसे ही पानी में उतरना पड़ेगा। यह काम कोई अन्य "प्रॉक्सी" के रूप में नही कर स्कता। खुद करोगे तभी कुछ हासिल होगा। निश्चय तब तक पूर्ण शान्ति नही मिल सकती,जब तक मन में विचार उठते रहेंगे, निरन्तर ध्यान

साधना का अभ्यास करते रहने से ही विचार-शून्य का अनुभव होगा, तब सच्ची शान्ति अन्दर से मिलेगी।

कबीर ने भी यही कहा - **"कस्तूरी कुंडल बसहि, मृग ढूँढ़हि वनमाहि।"**

बाहर ढूँढ़ने की जगह अन्दर ढूँढो। गुरूनानक ने भी ऐसे ही कहा "काहे को वन ख़ोजति जाहीं" सभी सत्य के पुजारियों ने भी यही कहा- सारे दिखावटीपन से दूर हटकर अंर्तमुखी होकर स्वयं के अर्न्तमन मे अनुभूति करने पर सदा जोर दिया है। पशिचम के सुकरात जैसे महान विभूति ने इसी सत्य के लिए हंसते-हंसते विषपान कर अपना बलिदान दे दिया। सुकरात का शिष्य प्लेटो, जिसने अरस्तू के इस जटिल प्रश्न के उत्तर में कहा था "जिसमें कोई परिवर्तन न हो, बस वही सत्य है"। सच्चे संत, प्रबुद्ध, जिज्ञासु, ज्ञानी इसी शाश्वत सत्य की खोज में अंर्तमुखी हो समाधि में चले जाते है, और अंततोगत्वा सत चित आनन्द की अनुभूति कर पाते हैं।

श्री शंकराचार्य की उक्ति है: **"ब्रह्म सत्यं, जग मिथ्या"**। एक ब्रह्म को छोड़कर सब मरणधर्म है। सारी प्रकृति मरणधर्म है, हर क्षण परिवर्तन होता रहता है, कोई उससे नहीं बचा। सत्य एक ही है, दो नहीं, न कभी हो सकते हैं। नाम अनेक हैं, और उन्हीं नामों के चक्कर में पड़कर विभिन्न मतावलंबी निरर्थक झंझटों में पड़ते हैं। शास्त्रार्थ करते है; और अन्ततोगत्वा किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। सच्चा जिज्ञासु एवं ज्ञानी, अंर्तनिहित परम सत्य की खोज में समाधिस्थ हो जाता है। इन बाहरी दिखावटी

बेकार के प्रपंचों में नही पड़ता। सूरदास की उपमा बड़ी सटीक है। "ज्यों गूगों, मीठे रस को अंर्तमन ही भावे", इसी तरह कबीर ने भी कहा" "मन मस्त हुआ, तब क्या बोले" सारे संतो की भाव अनुभूति एक जैसी ही है।

श्री जे० कृष्णमूर्ति अपने प्रवचनों में कहते है :

1. मन का एक दम शान्त हो जाना ही ध्यान है।
2. रोज सोने के वक्त यह समझो, जैसे मरने जा रहे हो और प्रातः उठते ही ऐसा समझो, जैसे नया जन्म ले रहे हो। ऐसा चिंतन करने से, नित्य नया जीवन शुरू होता है और पुराना जीवन समाप्त करके, जीने में नवीन स्फूर्ति मिलेगी।
3. सजग रहने के लिए, मन को सदा विचारों से मुक्त रखो।
4. जिसे सचमुच अंर्तबोध हो गया है, वह लोगों के बीच जाकर अपनी जागृति का ढिंढोरा नही पीटेगा।
5. जो वस्तुतः जग चुके है, वे मृत्यु को महान यंत्रणा न समझकर, शरीर रूपी पिंजड़े से मुक्ति मात्र मानते है।
6. आपके शरीर का उपचार कोई भी कर सकता है। लेकिन अपने मन का केवल आप ही कर सकते है, अन्य कोई नहीं। आपकी मानसिक स्थिति, आपके स्वास्थय को प्रभावित करती है। इसलिए अपने अंर्तमानस में जमे हुए कूड़े-करकट को साफ कर मन के स्वच्छ निर्मल, शुद्ध रखना ज्यादा आवश्यक है।
7. अपने विचारों को बड़े ध्यान से स्वयं सुनो - अपने आपको देखो, ठीक वैसे ही जैसे हो - आप देखोगे, आपके विचार, स्मृतियों

शंकाओं, तृष्णाओं के,एक पुंज के अतिरिक्त, कुछ भी नही है। अपने इन विचारो को मुक्त करके देखें - शेष रहता है कुछ नही केवल "शून्य"।

ध्यान करते हुए स्वयं की अनुभूति पर उनके विचार

अंर्तमुखी होकर स्वयं को फिर से अपना उद्घाटन करो - क्यों कि अब तक जो तुमने पाया है, विचारा है, अनुभव किया है, यह सब तुम्हारा नहीं हैं, तुम्हारे खेत की खेती का उपार्जन नहीं है। दूसरों का बोझ है, जिसे तुम धर्म समझकर, सत्य समझकर ढ़ोते रहे हो। अपनी आँख से देखो, अपने कान से सुनो, अपने अर्न्तमन से अनुभव करो, क्योंकि जो अपना है, वही सबसे बड़ा सत्य है। "मैं हूँ" यह सबसे नगद सत्य है, इसलिए हमें अपने को ही जानना है, अपंने को ही पाना है। हमारे सिवाय, हमें और कोई कहाँ से पायेगा? इसलिए चल पड़ो अपने को खोजने, मार्ग भी अपने से ही पूछो-प्रश्न पर प्रश्न करो। बन्द रास्ते अपने आप खुलते जायेंगे। अंधेरा स्वयमेव छंटता जायेगा। अपने से ही पूछ-पूछ कर अपना मार्ग बनाने वाला, हर पड़ाव पर अपना उद्घाटन करने वाला, एक दिन अपने को संपूर्णत्व में उदघाटित कर लेता है। सम्पूर्णत्व की अनुभूति, सर्वभव बन्धनों से मुक्ति है। सम्पूर्णता है तो अपूर्णता का स्थान कहाँ? धर्म पुस्तकें, शास्त्र-देवद्वार, मसीहा, अवतार कोई काम नहीं देंगें, इनकी तरफ से नेत्र मूंद लो, होठ बन्द कर लो, देखो, तभी स्वयं का उद्घाटन होगा।

एनीबेसेंट के अनुसार

"विश्व के विभिन्न धर्मों का लगभग चालीस वर्ष अध्ययन करने के

पश्चात मैं इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि हिंदुत्व जैसा परिपूर्ण वैज्ञानिक दार्शनिक एवं आध्यात्मिक धर्म और कोई नहीं है। इसमें कोई भूल न करे कि बिना हिन्दुत्व के भारत का कोई भविष्य है। हिन्दुत्व ऐसी भूमि है जिसमें भारत की जड़ें गहराई तक पहुँची है उन्हें यदि उखाड़ा जाएगा तो यह महावृक्ष निश्चय ही अपनी भूमि से उखड़ जायेगा। हिन्दू ही यदि हिन्दुत्व की रक्षा नही करेंगे तो कौन करेगा। अगर भारत के सपूत हिन्दुत्व में विश्वास नहीं करेंगे तो कौन इनकी रक्षा करेगा। भारत ही भारत की रक्षा करेगा। भारत और हिन्दुत्व एक ही है।"

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

श्री प्रभात रंजन सरकार श्री आनन्द मूर्ति

आनन्द मार्ग प्रतिष्ठाता व प्रवर्त्तक सदगुरू श्री प्रभात रंजन सरकार जिसे उनके शिष्य उन्हें श्री आनन्द मूर्तिजी या प्यार से "बाबा" कहते हैं। वे जमालपुर में रेलवे कार्यालय के एकाउन्टस विभाग में एक पदाधिकारी के रूप में 1955 से 1965 तक कार्य करते रहे। जमालपुर में एक छोटा-सा आश्रम था, जिसमें 3-4 उनके शिष्य सन्यासी रहते थे। वे बताया करते थे कि जमालपुर से कुछ दूरी पर पहाड़ियाँ थीं, जहाँ उन्होंने कई वर्ष तपस्या की थी। वैसे आश्रम में भी एक कमरा था जो बन्द रहता था, जहाँ आनन्दमूर्तिजी छुट्टी के दिनों में दीर्घ तपस्या में बैठ जाते थे। वे गुरू के रूप में प्रारंभिक काल में अपने शिष्यों को साधारण, सहजयोग, विशेष-योग तथा तंत्र की साधना सिखाते थे। उनमें से कुछ लोगों को चुन-चुन कर कापालिक साधना और कुछ लोगों को एक विशेष विराचारी साधन से दीक्षित किया। उनमें से कुछ लोग अपने परिवार को त्याग कर सन्यासी हो गये और साधना तपस्या में पकने लगे। श्री आनन्दमूर्ति जी ने 1955 में "आनन्द मार्ग" की स्थपना की। जो साधक अपना पूरा जीवन

इस साधना का प्रचार-प्रसार करने और स्वयं को ध्यान तपस्या में तपने का व्रत लिया उन्हें उन्होंने अध्यात्म विद्या के कला कौशल में निपुण करने के लिए प्रशिक्षण दिया और उन गृहीलोगों को सर्व प्रथम आचार्य बनाया और उन्हीं के द्वारा व्रध साधना तंत्र के आधार पर जन-समाज में प्रचार करवाना शुरू किया। उन्होंने यम नियम नैतिकता का कठोरता से पालन का सिर्फ आदेश ही नहीं दिया, वरन सामाजिक व्यवस्था भी की, तथा अपनी आध्यात्मिक शक्ति से शिष्यों के आचरण को देखते रहते थे।

आनन्द मूर्तिजी हर सायंकाल, भ्रमण के लिए जाते थे इसे साधक लोग Field Walking कहते थे, उनके साथ उनके कुछ शिष्य भी जाते - गुरूजी एक कब्र पर बैठ जाते थे। उनके सामने सायं, भ्रमण में साथ आये साधक बैठ जाते। कुछ धर्म चर्चा होती।

आनन्द मार्ग में दाखिल होने पर शिष्यों को कठोरता से यम नियम, नैतिकता का नियम, पालन करना पड़ता है । हर महापुरूष अपना संकल्प लेकर आते हैं। बाबा आनन्द मूर्ति जी का संकल्प था-विश्व कल्याण। इसलिए मात्र भारत में ही नहीं पूरे विश्व में धर्म प्रचार की उनकी योजना थी। 1961 में पूर्णकालिक सन्यासी को अवधूत की दीक्षा दी। 1962 में दाढी मूँछ बढ़ाये, सर पर गेरुवा पगड़ी, शरीर पर गेरुआ गाउन, नीचे गेरुआ लूंगी, हाथ में वक्षस्थल तक ऊंची लाठी, कमर में कमरबन्ध और उसमें लटकता छोटा छुरा, पाँव में काठ का खड़ाऊँ - इस वेश में बहुत से सन्यासी आनन्द मार्ग की साधना के प्रचार में लग गये। 1962-63 तक कई अवधूत बन गये और धर्म प्रचार के काम में निकल गये। पूरे भारतवर्ष में हर राज्य तथा प्रमुख स्थानों में अवधूत सन्यासी कार्यकर्ता को भेजा

जाने लगा। श्री आनन्द मूर्तिजी-आनन्द मार्ग में जाति विहीन, धर्ममत विहीन, आर्य द्रविड़ भेदविहीन, ब्राह्मण हरिजन भेदविहीन, हिन्दू-मुस्लिम-क्रिस्चियन धर्म मतविहीन मानव समाज का गठन शुरू किया। जो लोग आनन्द मार्ग की दीक्षा लेते, उन्हें यज्ञोपवीत, चोटी का मोह छोड़ना पड़ता, वे अपने को एक शुद्ध मानव परिवार का सदस्य मानते। पूर्णकालिकों के धर्म प्रचार के कारण आनन्द मार्ग के अनुयायियों की संख्या की वृद्धि होने लगी। आनन्द मूर्तिजी के सुविधा अनुसार धर्म महाचक्र जगह-जगह होने लगा। धर्म महाचक्र में गुरू देव आते, उनका सौम्य शान्त, देदीप्यमान आकर्षक चेहरा, स्वाभाविक मुस्कानमय मुखमण्डल, साधक उसको देखते-देखते भाव विभोर हो जाते। एक घण्टे का उनका प्रवचन होता, लोग भाव विभोर, मंत्रमुग्ध होकर सुनते। गुरूदेव जहाँ रुकते वहाँ कुछ समय के लिए उनके दर्शन की अनुभूति मिलती। बाबा उसकी साधना की प्रगति पर कुछ प्रश्न करते-साधक के कुछ प्रश्नों का उत्तर देते, समझाते। किसी साधक पर अपनी कृपा वर्षा कर उसके सिर स्पर्श करके आर्शीवाद देते थे, वे साधक आध्यात्मिक तरंगों से आप्लावित हो जाते थे। जमालपुर आश्रम में बाहर से आये और स्थानीय साधकों एवं सन्यासी को बाबा सामूहिक दर्शन देते थे।

जमालपुर के बाद मुंगेर (बिहार) में धार्मिक-सामाजिक संस्था के रूप में मुख्यालय स्थापित हुआ। वहीं से केन्द्रीय कार्यालय से संबंधित मार्ग के कार्य होते रहे। 1962 में बंगाल के पुरूलिया जिले की पुनदाग स्टेशन के पास एक छोटी सी पहाड़ी पर आनन्द नगर की स्थापना हुई। इसके लिए जयपुर की रानी ने आनन्द मार्ग के आश्रम की स्थापना के

लिए 500 एकड़ भूमि दान में दी। राँची (बिहार) में 1962 में दो कमरे का आश्रम बन चुका था। आनन्द नगर में 1962 से काम शुरू हुआ, 1963 /64 तक आनन्द मार्ग आश्रम, गुरूदेव का निवास स्थान, हाईस्कूल, एक जनरल होस्टल, दीनहीन बच्चों के लिए एक शिशु सदन खुला। बच्चों को भोजन, वस्त्र एवं शिश्रा का, आनन्द मार्ग की तरफ से प्रबन्ध हुआ। जनसेवा के लिए एक अस्पताल बना, एक कालेज की भी स्थापना हुई। 1963/64 में सभी संस्थायें कार्य करने लगी। सभी छात्राओं के लिए सुबह, शाम सामूहिक साधना अनिवार्य थी। साथ-साथ में सभी को योगासन कराया जाता था। इन विद्यार्थियों को यम नियम, नैतिक सिद्धांत की शिक्षा दी जाती थी। इससे विद्यार्थियों में अनुशासन, शुद्ध सदाचारी जीवन जीने का ज्ञान मिला और वे नैतिकता का जीवन जीने लगे। आनन्द मार्ग इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलाजी कालेज खुला, जिससे विद्यार्थियों को Earn While Learning की विधि में शिक्षित कर उन्हें बोकारो स्टील सिटी तथा टाटा नगर में व्यवहारिक इन्जीनियर कोर्स की शिक्षा दी जाती और सभी छात्रों को उनकी मेहनताना के रूप में पैसे मिलते।

आनन्द नगर स्कूल की सफलता को देखकर भारत के सभी राज्यों के हर जिले में जहाँ काफी आनन्द मार्गी साधक थे, आनन्द मार्ग प्राइमरी स्कूलों की स्थापना हुई। सभी स्कूलों में ध्यान साधना एवं योगासन अनिवार्य था। ध्यान का अभ्यास करने से उनमें एकाग्रता बढ़ी, स्मरण शक्ति में सुधार आया।

बिहार में रांची, भागलपुर, मुंगेर आदि स्थानों के साथ-साथ अन्य राज्यों में जहाँ-जहाँ आनन्द मार्गी साधक रहते थे, वहां भी धर्म चक्र होने

लगा। आनन्द मूर्तिजी उसमें आते और उनका प्रवचन होता। 1959 में बाबा श्री आनन्द मूर्तिजी ने एक समाज दर्शन का प्रवर्तन किया, जिसका नाम दिया "प्रउत" Prout (प्रगतिशील-उपभोग-तत्व) उनका समाज दर्शन था- कि मनुष्य की जो निम्नतम आवश्यकतायें घर, भोजन, वस्त्र, शिक्षा और चिकित्सा की गारंटी सब के लिए हो।

आनन्द मार्ग में धीरे-धीरे बड़ी संख्या में आनंद मार्गी Whole Time Worker यानी वे साधक जो अपना सारा जीवन धर्म प्रचार के लिए देना चाहते थे, सन्यास लेकर धर्म प्रचार करने लगे। वे अधिकतर बिहार प्रदेश के थे। बहुत बड़ी संख्या में आनन्दमार्गी नवयुवक-नवयुवतियां जवानी के आरम्भ में सन्यासी और सन्यासिनी बनकर बाबा के द्वारा बनाये कड़े नियमों का पालन करने लगे थे। बाबा आनन्द मूर्तिजी ने उनको सारे भारत में धर्म प्रचार, आनन्द मार्ग विधि से ध्यान प्रचार करने में लगाया। उनके प्रयास और आनन्द मूर्तिजी के धर्म महाचक्र में आनन्द मार्गीय विधि से विवाह होने लगे। जिसमें अनिवार्य था वर-वधू आनन्द मार्ग की साधना नित्य निष्ठा लगन से करें। यम नियम का पालन कठोरता से करते हैं। इन विवाह में जात-पांत को महत्व नही दिया जाता था। लड़का विदेशी-लड़की भारतीय, लड़का क्षत्रिय-लड़की ब्राह्मण, लड़का मुसलमान लड़की हिन्दू-ईसाई या लड़का शूद्र तो लड़की ब्राह्मण। विवाह आधे घण्टा में हो जाता। वर वधू को बाबा का आर्शीवाद मिलता। ऐसी सैकड़ों शादियां आनन्द नगर में आनन्द मार्गीय विधि से होती। वर वधू अध्यात्मिक व्यक्तित्व के रूप में एक दूसरे का वरण करते।

आनन्द मार्ग के दर्शन प्रचार की योजना से, जातिवाद, भाषावाद,

सम्प्रदायवाद से ऊपर उठकर विश्व-मानव का एक उद्देश्य ब्रह्म उपलब्धि, जीवन में शान्ति, आनन्द की प्राप्ति, विश्व भ्रातृत्त्व, विश्वेकतावाद का लाभ मिला। सभी देश के आनन्द मार्गी एक मानवतावादी बनकर विश्व भ्रातृत्व कायम किया। आनन्द मार्ग के अनुयायी उनके शिष्यगण बाबा आनन्द मूर्तिजी को भगवान मानते हैं, उनके प्रति अगाध श्रद्धा, अगाध प्रेम था।

अनैतिक जातिवादिता में विश्वास करने वाले, जिनकी संतान सन्यासी, सन्यासिनी बन गये, ऐसे लोग, बंगाल के कम्युनिष्टो का आनन्द मार्ग के प्रति विरोध शुरू हुआ, नाना प्रकार की लांछनाएँ, दुष्प्रचार शुरू हुआ। गुरूदेव आनन्द मूर्तिजी को कुछ माह कारावास भोगना पड़ा। इमरजेन्सी लगाकर आनन्द मार्ग का दमन, केन्द्र सरकार ने किया, बहुत सन्यासी एवं मार्ग के मुख्य कार्यकर्ताओं को जेल में जाना पड़ा। समाचार पत्रों में आनन्द मार्ग एवं आनन्द मूर्तिजी के विषय में झूठे निन्दनीय समाचार छपे। कुछ दिनों में ही वह विपद के बादल छंटे, मुकदमा जीतकर गुरूजी जेल से मुक्त हुये। जब समाचारपत्र वालों को आनन्द मार्ग की असलियत का पता लगा और 1990 में सारे समाचार पत्रों में आनन्द मार्ग के प्रति सहानुभूति छपने लगी। कहाँ 1956-57 में कुछ हजार लोग धर्म महाचक्र में केवल साधक ही प्रवेश पाते थे। आनन्द मार्ग की शिक्षा प्रणाली प्राकृतिक दुर्घटनाओं में सन्यासी एवं साधकों द्वारा रिलीफ कार्य, योग साधना, यम नियम, नैतिकता के नियम, ध्यान साधना से जीवन में शांति, यह सब का लाभ देखकर और सुनकर मार्ग के प्रति सहानुभूति बढ़ी। बड़ी संख्या में लोग आनंद मार्ग विधि की साधना करने लगे।

सदगुरू ने भक्ति मूलक आध्यात्मिकता के आधार पर संगीत दिये, जिसका नाम प्रभात संगीत पड़ा। धर्म महाचक्रों में एवं साधना करने के पहले प्रत्येक देश में यह संगीत अपने घरों में प्रेम से गाते हैं। वातावरण को भगवत प्रेम भक्ति के भाव से भर देते हैं।

बाबा आनन्द मूर्तिजी धर्म के बारें में कहते थे -

धर्म वही जो धारण करे - अग्नि का धर्म उसकी उष्णता तथा जल का धर्म उसकी शीतलता है। मनुष्य जीवन में सुख ही चाहता है, इस सुख प्राप्ति के लिए नाना प्रकार का उपाय खोजता है, ये सुख अंत में दुख पहुँचाते हैं। सच्चा सुख ब्रह्म को पाने से ही मिलता है। इस ब्रह्म प्राप्ति के लिए सही मार्ग धर्म पथ और ध्यान साधना है। जो धर्म साधना, यम नियम पालन, आसन, प्राणायाम करते रहेगें वे भौतिक तथा मानसिक शक्ति सम्पन्न लोगों से अधिक शक्तिशाली होगें।

मुक्ति-मोक्ष का अर्थ है, छुटकारा होना। जब सारी 8000 वृत्तियाँ मनुष्य के नियंत्रण में आ गयी तो वह मुक्त हो गया। जब एक ही ब्रह्मभाव में, पूर्णरूप से स्थित हो गया तो वह सविकल्प समाधि में चला गया।

❊ ❊ ❊ ❊ ❊

श्री रजनीश

श्री रजनीश 11-12-1931 का मध्य प्रदेश के एक छोटे से गांव में इनका जन्म हुआ। दिन-दुगुनी और रात-चौगुनी इनकी प्रतिभा विकसित होती रही। सन् 1957 में इन्होंने सागर-विश्व विद्यालय से दर्शन शास्त्र में एम०ए० की उपाधि प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। बाद में जबलपुर के दो महाविद्यालय में क्रमशः एक और आठ वर्ष के लिए प्रोफेसर के पद पर शिक्षण का कार्य करते रहे। इस बीच इनका पूरे देश में घूम-घूम कर प्रवचन देने व साधना शिविर लेने का कार्य भी चलता रहा। बाद में 1966 में नौकरी छोड़कर अपना पूरा समय प्रायोगिक साधना के विस्तार व धर्म पुनरूत्थान में लग गये। इनका प्रवचन व साधना-शिविरों से प्रेरणा पाकर अनेक प्रमुख शहरों में उत्साही मित्रो व प्रेमियों ने "जीवन जागृति केन्द्र" संस्था के रूप में निर्मित किया है। वे प्रवचन व शिविरों का आयोजन करते हैं तथा पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था करते हैं। जीवन जागृति केन्द्र का प्रमुख कार्यालय बम्बई में कार्य कर रहा है। हजारों की संख्या में देशी व विदेशी साधक इनके शिष्य बन गये हैं। आपके शिविर

में साधक, गुरू के साथ नाचते हुए, गीत गाते हुए, आनन्द मग्न होकर ध्यान साधना करते हैं। वे कहते हैं, इस तरह श्वांस-श्वांस से रोयें-रोयें से, प्राणों के कण-कण से एक संगीत, एक गीत, एक नृत्य एक आल्हाद, एक सुगंध आलोक एवं अमृत की प्रतिफल वर्षा होती रहती है।

उनके प्रवचन में जीवन के, जगत के, साधना के, उपासना के विविध रूपों व रंगों का स्पर्श है। उनके शिष्य एवं वे स्वयं भी अपने को भगवान कहते थे। इस तरह वे रजनीश से भगवान श्री रजनीश कहलाने लगे थे। कुछ वर्षो बाद अपना नाम भगवान रजनीश छोड़ स्वयं को "ओशो" कहने लगे, यह जापानी नाम है। ओशो-वर्तमान युग के एक क्रांतिकारी विचारक, आधुनिक संत और जीवन सृजक हैं। "ओशो" शब्द सुदूर पूर्व में प्रचलित है, जिसका अभिप्राय है - "भगवान को उपलब्ध व्यक्ति जिस पर आकाश फूलों की वर्षा करता है।"

ओशो कहते हैं - "जीवन को चाहो, जीवन को जिओ - समग्रता से।

पश्चिम के कई खोजी आपके सम्पर्क में आये, जिनमें अनेक पेशेवर लोग थे। आपकी कीर्ति पूरे यूरोप, अमरीका, आस्ट्रेलिया और जापान में फैलने लगी। मासिक ध्यान शिविर जारी रहे। 1974 में पूना में एक स्थान लेकर, जहाँ ध्यान शिक्षा का काम शुरू किया। वे अधिक समय अपने कमरे में रहते, केवल दो बार बाहर आते, प्रातः प्रवचन देने के लिए और संध्या साधकों को सन्यास दीक्षा एवं मार्ग दर्शन देने के लिए। दो वर्ष के

भीतर ही आश्रम बहुत विख्यात हो गया। परन्तु बहुत से परम्परावादी हिन्दू समुदाय; विदेशी साधकों की भीड़, उनका खुले आम पुरूष-स्त्री से मिलना और साथ नृत्य करना भारतीय संस्कृति के विपरीत लगा, वे उनके विरोधी हो गये। मंदिर-मस्जिद-चर्चो ने पूरब एवं पश्चिम हर जगह इनका विरोध किया। उस समय तक सारी दुनिया में रजनीशजी के पास एक लाख से उपर सन्यासी हो चुके थे। 1981 में उन्होने प्रवचन देना बन्द कर दिया और मौन रहते हुए ध्यान साधकों (सन्यासियों) को अंर्तमन से संवाद देते रहे। उनकी रीढ़ की बीमारी ने गंभीर रूप धारण कर लिया था, उन्हे शल्य चिकित्या के लिए अमेरिका ले जाया गया। अमेरिका के शिष्यों ने औरगन के अर्ध-रेगिस्तानी इलाके में 64000 एकड़ भूमि खरीदी, वहीं वे रहने लगे, तेजी से स्वस्थ होने लगे। इस नवीन रजनीशपुरम नगर में; सारी दुनिया के सन्यांसियों के लिए ग्रीष्मकालीन महोत्सव में 20,000 लोगों को आवास और भोजन की व्यवस्था रहती थी, औरगन सरकार एवं वहाँ के ईसाई बहुमत के नित्य बढ़ते जा रहे कानूनी आक्रमणों से रजनीश घिर गये थे। 1981 अक्टूबर में उन्हे किसी वारंट के आधार पर गिरफ्तार किया गया। उन्हें एक कोठरी में एक कैदी के साथ रखा गया। वहाँ से किसी तरह छूटे और भारत आये, यहाँ भी उन्हे भारत छोड़ देने का आदेश हुआ। वे नेपाल चले गये, वहाँ भी अपना प्रवचन प्रारम्भ किया। वहाँ से ग्रीस गये, वहाँ के कट्टरपंथी धर्म-पुरोहितों की साजिश से वहाँ उन्हे गिरफ्तार किया, वहाँ से स्विजरलैण्ड गये वहाँ उन्हें नहीं रंहने दिया तो स्वीडन गये, वहाँ से भी तुरंत निकल जाने का आदेश जारी

हुआ, वहाँ से इग्लैण्ड गये, वहाँ भी शरण... ों से भरी एक नन्हां काठरी में बन्द कर दिया गया। वहाँ से छूटे, परन्तु हालैण्ड, जर्मनी, इटली सब देश ने उन्हें आने से इन्कार कर दिया। अंत में वे बम्बई से पूना आये और अपने ध्यान तपस्या में लग गये। धीरे-धीरे सारे बादल छंटे और ओशो फिर भारत एवं विदेशों में छा गये और सब जगह पूजनीय हुये।

* * * * *

कल्याण मित्र श्री सत्यनारायण गोयन्का

श्री सत्यनारायण गोयन्का का जन्म स्वर्णभूमि म्यांन्मार (ब्रह्मदेश) के प्रमुख नगर मांडले में 1924 में हुआ था। अपनी प्रतिभा बुद्धि, कौशल एवं कड़ी मेहनत से वे दसवीं कक्षा की परीक्षा में सारे ब्रह्मदेश में सबसे ऊँचे अंक लेकर उत्तीर्ण हुए। एक अन्य अखिल ब्रह्मदेशीय परीक्षा में भी वे सर्वप्रथम आए थे। ब्रिटिश राज्य के तत्कालीन गर्वनर लार्ड क्रोकरीन ने उन्हे स्वर्णपदक से सम्मानित किया। एक प्रतिष्ठित घराने के बालचंद मारवरिया की पुत्री इलायची देवी से उनका विवाह हुआ। परिणय संस्कार के कुछ दिन बाद ही सन 1942 में ब्रह्मदेश पर द्वितीय विश्व युद्ध के बादल मंडराने लगे। जापानी सेना बर्मा पर चढ़ आई। वहाँ बसने वाले भारतीय मूल के लोग अपने पूर्वजों की जन्मभूमि की ओर पलायन करने लगे। समुद्री यात्रा के साधन बंद हो चुके थे। रंगून पर जापानी बमबारी तेज हो चुकी थी। अतः परिवार के कुछ सदस्यों सहित ऊबड़-खाबड़ पहाड़ियों और बीहड़ जंगलों को पैदल पार करते हुए भारतीय सीमा तक

पहुँचे। वहाँ से चलते हुए पुरखों की जन्मभूमि चुरू (राजस्थान) में पूर्वजों की बनवायी हुई विशाल हवेली में आकर चैन की साँस ली।

शिक्षा के प्रति उनकी गहरी रूचि थी। अत: चूरू की साप्ताहिक साहित्य गोष्ठियों में भाग लेते हुए वहाँ के कई साहित्यकारों से अच्छे संबंध स्थापित हो गये। वहीं हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की मध्यमा की परीक्षा दी। उसमें उत्तीर्ण होकर विशारद की उपाधि प्राप्त की।

व्यापार को विस्तार से फैलाने के लिए परिवार के कुछ सदस्यों के साथ वे मद्रास आकर बस गये। युद्ध समाप्त होते ही बर्मा में पुन: ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हुआ। श्री सत्यनारायण परिवार के बड़े भाग के साथ रंगून जा बसे। अपनी बुद्धि, कौशल और कड़ी मेहनत से धीरे-धीरे उद्योग धंधों में प्रगति करने लगे। वहाँ के प्रमुख उद्योगपतियों में उनकी गणना होने लगी। युद्धोत्तर बर्मा में "बर्मा मारवाड़ी चैंबर ऑफ कामर्स" की पुनस्थापना में सहयोग दिया और उसके अध्यक्ष की हैसियत से खूब सेवा की। बर्मा स्वतंत्र हुआ, उसकी अपनी सरकार स्थापित हुई तो स्वतंत्र बर्मा के व्यापार मंत्रालय की सलाहकार समिति के सदस्य बने। "चैंबर ऑफ कामर्स एंड इन्डस्ट्रीज" के सदस्य बनकर अपनी सेवाएं देते रहे। "रामकृष्ण मिशन सोसाइटी", रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के पद में रहते हुए उनकी अस्पताल में अपनी सेवा का खूब योगदान दिया। "अखिल ब्रह्मदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन" की स्थापना की। उनके अध्यक्ष रहते हुए बर्मा के विभिन्न स्थानों में उनकी शाखाएं खोलकर हिन्दी के पठन-पाठन की सुविधा तैयार की। कुछ साथियों के सहयोग से "आल बर्मा इन्डियन कांग्रेस" की स्थापना की। यह संस्था, बर्मा निवासी भारतीय किसान,

मजदूरों के आवासीय कागजात दुरस्त कराने उनके भारत आने जाने के लिए आवश्यक सरकारी अनुमति उपलब्ध कराने का कार्य करती थी।

भारत तथा बर्मा दोनों देशों की स्वतंत्रता के कुछ समय पश्चात, भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू दक्षिण-पूर्वी एशियायी देशों की यात्रा पर निकले और दो दिन के लिए रंगून रूके। आल बर्मा इंडियन कांग्रेस के पदधिकारी से मिले। सत्यनारायण जी से प्रवासी भारतीय की समस्याओं पर बातचीत की, अपने सुझाव दिये। दूसरे दिन वे सत्यनारायण जी के साथ भारत के अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह ज़फर की मजार पर गये। मज़ार पर चार मिनट मौन खड़े रहे, शायद उन्हें अंतिम दर्द भरे बोल याद आने लगे हो -

कितना है बदनसीब जफर, दफन के लिए।
दो गज जमीं न मिल सकी, कूचेयार में ॥

कूचेयार में यानी अपने देश में ।

पंडित नेहरू से ढाई घंटे की वार्ता बड़े सौम्य वातावरण में होती रही। 1951 की सत्यनारायण की भारत यात्रा के दौरान दिल्ली में श्री रौफ जी जो वर्मा में भारतीय राजदूत थे उनके साथ श्री नेहरूजी से उनकी दुबारा मुलाकात हुई, कुछ समय पश्चात संयोग से श्री सत्यनारायण जी और नेहरूजी एक ही वायुयान में यात्रा कर रहे थे।

पंडित जी प्रथम श्रेणी में बैठे थे और सत्यनारायणजी इकोनॉमी क्लास में। अचानक उनकी निगाह पड़ी तो उन्होंने सत्यनारायण को कुछ देर के लिए अपने पास बुला लिया और हालचाल पूछने लगे। सन 1960

में पं. नेहरूजी ने बर्मी प्रधानमंत्री थाकिऊनू को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से मानद डाक्टरेट उपाधि प्रदान करने के लिए आमंत्रित किया था।ऊ नू ने सत्यनारायण जी को भी अपने साथ ले लिया था। इस यात्रा में पं० नेहरूजी से सत्यनारायण ने बुद्धवाणी के त्रिपिटक ग्रंथों का अनुवाद जो पाली भाषा में है, उसे हिन्दी भाषी जनता के लाभार्थ हिन्दी में अनुवाद करवाकर प्रकाशित करने की प्रार्थना की । नेहरूजी ने स्वीकार किया कि यह भारत की अनमोल धरोहर है। अतः यह गौरवपूर्ण कार्य भारत सरकार करेगी। उन्होंने इस निमित हाथो हाथ आवश्यक आदेश भी जारी किये। बर्मा में सैनिक सरकार की स्थापना के बाद भारत के प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री रंगून आये तो सत्यनारायणजी ने उन्हे बुद्धवाणी के हिन्दी अनुवाद के लिए नेहरूजी के दिये हुए आश्वासन संबंधी बातचीत की। उन्होंने भी उसे पूरा करने का आश्वासन किया। परन्तु इसके बाद शीघ्र ही रूस में उनका निधन हो गया। इसी प्रकार कुछ समय पश्चात जब प्रधानमंत्री इंदिया गांधी बर्मा की यात्रा पर आयीं तब उन्हें भी इस महत्वपूर्ण कार्य के बारे में आगाह किया, उन्होंने भी आश्वासन दिया। सन 1969 में श्री सत्यनारायण बर्मा से भारत आने पर श्रीमती इंदिराजी के निवास पर भेंट की, उन्हें त्रिपिटक के अनुवाद संबंधी बर्मा में हुई बातचीत याद थी। अतः सत्यनारायण जी को अपने कार्यालय में बुलाया और उनके सामने संबंधित अधिकारी को आदेश दिया कि यह काम शीघ्र पूरा किया जाय। परन्तु शासनतंत्र की अनेक कठिनाइयों के कारण सरकार यह काम कर न सकी। लगनशीलता के अक्षय भण्डार श्री सत्यनारायणजी 1969 में जब भारत आये और सन 1986 में इगतपुरी में "विपश्यना

विशोधन विन्यास" की स्थापना सहित अर्थकथाओं, टीकाओं का समस्त विशाल पाली साहित्य, नागरी लिपि में पुस्तकाकार प्रकाशित कर और उसे सी.डी.-रोम में भी निवेसित करवाया, उनके अनुवाद का कार्य भी हो रहा है।

सन 1950 में अखिल भारतीय मारवाड़ी सम्मेलन के कलकत्ता के अधिवेशन में भारत के सभी प्रांतो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। विदेश से बर्मा के प्रतिनिधि स्वरूप सत्यनारायण जी उनके आमंत्रण पर पधारे थे। वे अध्यक्ष सेठ गोविन्ददास जी के पूर्व परिचित थे। उन्हें मंच पर प्रमुख पदाधिकारियों के साथ आसन दिया गया। मंच पर समाज के शीर्षथ नेता अध्यक्ष सेठ गोविन्द दासजी, सर बद्रीप्रसादजी गोयन्का, विदर्भ के मुख्यमंत्री श्री बृजलाल जी वियाणी, स्वागताध्यक्ष श्री ईश्वरदासजी जालाना आदि उपस्थित थे। सामने लगभग बीस हजार लोग बैठे थे। भाषण आदि के पश्चात एक प्रस्ताव आया कि मारवाड़ियों को विवाह में "दहेज प्रथा" की कुरीति का सर्वथा त्याग करना चाहिए। निष्ठावान सामाजिक कार्यकर्ता श्री सत्यनारायण ने अपने भाषण में कहा, "यह एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव आया है। यह महज रूढ़िपूर्तिपरक, उपदेशात्मक प्रस्ताव बन कर न रह जाय। इसलिए इस प्रस्ताव में यह जोड़ा जाय कि "अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन की "अखिल भारतीय समिति के जो सदस्य हैं, उन पर यह प्रस्ताव अनिवार्यत: लागू होता है। यानी कि स्वयं विवाह में कोई दहेज नहीं स्वीकारेंगे और न ही ऐसे किसी विवाह में सम्मिलित होंगे जिसमें दहेज का आदान-प्रदान हो। उन्होंने यह संशोधन प्रस्तुत करते हुए जनसमूह के समक्ष यह प्रतिज्ञा की कि इस संशोधित प्रस्ताव का वह स्वयं

अक्षरशः पालन करेंगे विपुल हर्ष ध्वनि के साथ प्रस्ताव पास हुआ। कार्य समिति के एक सदस्य ने यह आवाज उठाई कि अपने माता-पिता की संपदा पर किसी पुत्री का कोई हक ही नही रहा। इसके उत्तर में सत्यनारायण जी ने अपने संशोधन का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि माता-पिता सहज वात्सल्य भाव से अपनी पुत्री को चाहे जितना धन, आभूषण आदि दे, परन्तु वह विवाह का अंग न बने। अनेक नेताओं और श्रोताओं ने तालियों की गड़गड़ाहट के साथ इसे स्वीकृति प्रदान की और वहाँ के दैनिक, साप्ताहिक पत्रों में इसकी खूब प्रशंसा हुई। सत्यनारायण जी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इसका आज तक अक्षरशः पालन करते आ रहे हैं।

वे एक बार बर्मी सरकार के व्यापार उद्योग मंत्रियों एवं प्रमुख पदाधिकारियों के साथ एक डेलीगेशन में भारत सरकार के साथ व्यापारिक संबंध बढ़ाने एवं दोनों देशों के मैत्री - संबंध दृढ़ करने के उद्देश्य से भारत आये। भारत के संबंधित मंत्रियों और पदाधिकारियों के साथ बातचीत में भाग लिया। जनरल नेविन के प्रथम शासनकाल में भी एक बार भारत और दूसरी बार रूस तथा अन्य पूर्वी यूरोपियन देशों से व्यापारिक समझौता कराने के लिए उस समय के वाणिज्य मंत्री ऊतीहान के नेतृत्व में सरकारी प्रतिनिधि मंडल के साथ थे। इन दोनों यात्राओं में श्री सत्यनाराण जी ने दोनों देशों के व्यापारिक समझौता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

रंगून में रहते हुए 25 वर्ष की युवावस्था में ही जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रभूत सफलता प्राप्त करने के साथ धन संपदा और यथेष्ट यश कीर्ति कमाने के कारण अहंजन्य मानसिक तनाव बढ़ता गया और सत्यनारायण "माइग्रेन" जैसी लाइलाज बीमारी के शिकार हो गये। जब भी

इसका दौरा पड़ता उन्हे भयंकर पीड़ा में से गुजरन पड़ता, डाक्टर उन्हें "मॉर्फिया" की सूई देता, जिससे उन्हें राहत मिलती। व्यापार धन्धें के लिए उन्हें बार-बार विदेशों के चक्कर लगाने पड़ते थे, उन्होंने लंदन, जर्मनी, स्वीट्जरलैंड, अमेरिका और जापान आदि देशों के प्रमुख डाक्टरों से इलाज करवाया पर कोई लाभ नही हुआ। निराश होकर बर्मा वापस लौट आये। उनके एक मित्र सुप्रीम कोर्ट के जज "ऊ छान टुन" ने उन्हें सलाह दी कि वे विपश्यना साधना के एक दस दिवसीय शिविर में बैठें। इससे उनका मानसिक तनाव कम होगा। चित के विकारों का शमन होगा तो इस रोग से स्वत : छुटकारा मिल जायेगा।

रंगून में सयाजी ऊ बा खिन द्वारा संचालित "इण्टरनेशनल मेडीटेशन सेंटर" है जो कि भारतीय ऋषिमुनियों की तपोभूमि सदृश एक छोटी-सी पहाड़ी पर शांत वातावरण में स्थित है। वहाँ एकान्त ध्यान के लिए शून्यागार बने हुए हैं। वे सितंबर 1955 में एक दस दिवसीय शिविर में सम्मिलित हुए। इस पहले ही शिविर में माइग्रेन की लाइलाज बीमारी से छुटकारा मिला। जीवन जीने का एक नया मार्ग मिल गया। घर आकर सुबह शाम ध्यान करते रहे। इससे उन्हे कायाकल्प एवं चित शांति की एक अनूठी ताजगी मिली। इस आंतरिक सुख और शांति से प्रभावित होकर 14 वर्ष तक सयाजी ऊ बा खिन की छत्रछाया एवं कुशल मार्ग निर्देशन में न केवल स्वयं ध्यान करते रहे बल्कि परिवार के अन्य सदस्यों और मित्र- परिचितों को भी उससे लाभान्वित करवाते रहे।

गुरूदेव सयाजी ऊ बा खिन ने अपने शिष्य सत्यनारायण को बताया कि यह विधि भारत की पुरानी अनमोल विद्या है जो लगभग 2500 बर्ष

पूर्व भगवान गौतम बुद्ध ने खोज निकाली थी। इससे वे स्वयं मुक्त हुए और 45 वर्षों तक इस ध्यान साधना विधि को भारत के जनगण को बाँटते रहे। लाखों की संख्या में लोग इसका लाभ उठाकर जीवन मरण के बंधन से मुक्त हुए। सम्राट अशोक ने इसका विपुल प्रसारण किया। उसके राज्यकाल में बुद्धवाणी पर तीसरी धर्म संगति हुई। उसके बाद भिक्षु सोण और उत्तर को स्वर्णभूमि बर्मा भेजा। चौदह वर्षों तक अपने जिस शिष्य को सयाजी ने बड़े प्यार से विपश्यना का गहन प्रशिक्षण दिया था, उसे जून 1969 में विधिवत आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके भारत भेजा और बर्मा द्वारा विपश्यना का अनमोल रत्न लौटाते हुए भारत के पुरातन ऋण से उऋण होने का पुनीत कार्यभार सौंपा। यों लगभग दो हजार तीन सौ वर्षो बद श्री सत्यनारायणजी गोयन्का के साथ विपश्यना विद्या अपनी जन्मभूमि भारत लौटी। पड़ोसी ब्रह्मदेश ने यह विद्या ही नही बल्कि भगवान बुद्ध की सम्पूर्ण वाणी को भी सुरक्षित रखा और उन्हें इस विद्या के साथ-साथ संपूर्ण पाली वाङ्मय बर्मा से मंगाकर पुनः प्रकाश में लाने का ऐतिहासिक गौरवमय श्रेय भी प्राप्त हुआ। धर्म मार्ग के प्रकाश स्तम्भ श्री सत्यनारायण सयाजी ऊ बा खिन का आदेश शिरोधार्य करके, "व्यवसाय से निवृति लेकर अपना शेष जीवन इसी के प्रशिक्षण में लगायेगें और दुखी मानव के मंगल में सहायक बनेगें," यह संकल्प लेकर भारत आये।

जून 1969 में उनके भारत आने के दस दिन के भीतर 3 से 14 जुलाई तक पंचायतीवाड़ी धर्मशाला में लगभग 2000 वर्षों के लम्बे अंतराल के बाद भारत की पुण्यभूमि पर भगवती विपश्यना का पहला शिविर संचालित हुआ। इस पहले शिविर में हमारे माता-पिता के अतिरिक्त कई

गणमान्य लोगों ने भाग लिया। दूसरा शिविर 24-07-1969 को मद्रास के अग्रवाल भवन में लगा। तीसरा पुनः मुम्बई की नेपाली बाड़ी धर्मशाला में। चौथा महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ (वाराणसी) में और पांचवा दिल्ली में। यों एक के बाद एक शिविरों का तांता लग गया। भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया।

जब विपश्यना के कोई केन्द्र स्थापित नही हुए थे तब गुरूजी सार्वजनिक स्थानों पर शिविर लगाते और स्वयं ही उनका संचालन करते थे। उन स्थानों पर जन सामान्य के लिए जो सुविधाएं उपलब्ध रहती, उसी में वे स्वयं भी रहते और रेलगाड़ियों की साधारण श्रेणी में ही यात्रा करते थे। उनके त्याग, तपस्या और कष्टों का आंकलन करना बहुत ही कठिन है। ऐसे सार्वजनिक स्थानों पर जनता की मांग पर उनके प्रवचन भी होते थे। जब केन्द्र स्थापित होने लगे, तब भी स्थान-स्थान पर उनके सार्वजनिक प्रवचन होते रहते थे। 12-06-1987 में वे मद्रास पधारे तब उनका 13 प्रमुख संस्थाओं में, वहाँ के प्रबुद्ध समाज के लोगों मे उनके प्रवचन हुए।

1969 से 1973 तक सारे भारत में शिविरों की मांग और साधकों की संख्या बढ़ती चली गई। अब 20 दिवसीय और 30 दिवसीय शिविर भी लगने लगे थे। 6 से 17 अक्टूबर 71 में डलहौसी में विदेशियों का शिविर लगा, जिसमें अधिकतर पश्चिमी जगत के भटके हुए हिप्पी परंपरा के लोगों ने भाग लिया। उनमें आये परिवर्तनों को देखकर इस विद्या को जांचने के लिए अमृतसर की क्रिश्चियन मिशनरी के फादर लोरेंस और मदर मैरी ने शिविर में भाग लिया। उनको मिले लाभ को देखकर खंडाला

के "सेट मैरी चर्च" में एक शिविर लगवाया, जिसमें 122 लोगों ने भाग लिया। इनके कल्याणकारी परिणामों से प्रभावित होकर प्रमुख पादरियों के शिविर में भाग लेने का सिलसिला आरम्भ हुआ। बाद में "फादर ट्रेनिंग इंस्टीटयूट" ने यह नियम बना दिया कि सभी नव प्रशिक्षित ब्रदर्स और सिस्टर्स पहले एक विपश्यना शिविर में भाग लेकर ही बाहर सेवा का कार्य आरंभ करेगें। अलग से पादरियों के शिविर लगे। शिविरों की मांग सभी वर्गों में फैलती चली गयी। हिन्दू , मुसलमान, जैन, सिख, ईसाई, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि सभी संप्रदाय के लोग इनका लाभ लेने लगे। मुस्लिम दरगाह (मस्जिद) में क्रमशः दो शिविर लगे, जिसमें बड़ी संख्या में मुसलमानों ने भाग लिया। दादाबाड़ी जैन मंदिर एवं भद्रेश्वर के जैन मंदिर राजगृह के जैन संस्थान में लगे शिविरों में अनेक जैन साधु-साध्वियों ने धर्मलाभ लिया। आचार्य श्री तुलसी के "आध्यात्म साधना केन्द्र" दिल्ली में उन्होंने अपने साधु-साध्वियों के लिए एक शिविर लगवाया। उनमें अनेक मुनियों और साध्वियों के साथ मुनि श्री नथमलजी स्वयं बैठे। उसमें मिले लाभ से प्रभावित हो, वहीं एक और शिविर लगाया। लाडनूँ में तेरा पंथी वरिष्ठ साधु-साध्वियों की बड़ी संख्या का एक शिविर लगा।

विपश्यना ध्यान साधना के प्रति लोगों का रूझान बढ़ता गया, भाग लेने वाले साधकों की संख्या जोर से बढ़ने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए 1976 को दो स्थाई विपश्यना केन्द्र (आश्रम) इगतपुरी और हैदराबाद में स्थापित किये गये। जिनमे साधकों के निवास, भोजनलाभ, सामूहिक साधना के लिए विशाल कक्ष और एकांत साधना के लिए ध्यान कुटियों (शून्यागार) की सुविधाएं उपलब्ध हैं। 1978 में जयपुर शहर के

पर्वत श्रेणियों के मध्य एक रमणीय घाटी में एक केन्द्र खुला। इसके बाद एक-एक करके पूरे भारत में विपश्यना के नये-नये केन्द्र स्थापित होते गये, जिसकी संख्या आज 45 है। भारत में ही नहीं सारे विश्व में स्थान-स्थान पर अनेक विपश्यना केन्द्र खुलते जा रहे हैं। इन तपोभूमियों में विपश्यना ध्यान साधना के अतिरिक्त अन्य कोई प्रवृत्ति नही होती है। वहाँ साधकों के निवास और भोजनादि की समुचित व्यवस्था रहती है। साथ-साथ में भारत एवं अन्य देशों में स्थान-स्थान पर अनेक अकेन्द्रीय शिविर भी लगाते रहते हैं। सभी शिविरों में जात-पाँत, धर्म सम्प्रदाय के भेदभाव के बिना कोई भी मुमुक्ष सम्मिलित हो सकता है। यों आज यह पवित्र धर्म गंगा विश्व भर में जन जन का कल्याण कर रही है।

पुराने केन्द्रों में महीने में दो शिविर लगते है, नये केन्द्रों में हर महीने एक शिविर लगाते हैं। इगतपुरी मुख्य आश्रम प्रत्येक शिविर में 800-900 साधक बैठते हैं। इस केन्द्र में प्रवेश पाने के लिए साधकों को महीनों प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अन्य केन्द्रों में संख्या 150 के आस पास रहती है। पुराने साधकों के लिए अलग से एक केन्द्र "धम्म पट्टान" इगतपुरी में है, जिसमें दीर्घ शिविर 20 दिवसीय, 30 दिवसीय, 45 और 60 दिवसीय शिविर लगते रहते हैं। ऐसा ही एक आश्रम दिल्ली से 56 किमी. दूर कम्मासपुर स्थान पर सिर्फ पुराने साधकों के दीर्घ शिविर के लिए बना है। वैसे बहुत से पुराने केन्द्रों में 20 और 30 दिवसीय शिविर की व्यवस्था है और वहाँ साधक इसका लाभ उठाते हैं। नये केन्द्र की स्थापना के लिए दान सिर्फ साधकों से ही स्वीकार करते हैं।

साधकों की संख्या केवल भारत ही नही विदेशों में भी बढ़ने लगी

और वहाँ से शिविर लगवाने की बहुत मांग आने लगी। देश-विदेश में चारों ओर साधना शिविरों की बढ़ती मांग को देखकर 1980 में भारत एवं विदेशों में पुराने साधक, जो इस धर्म सेवा के लिए समय दे सकते थे, उनको चुन चुन कर सहायक आचार्य का भार दिया। जिससे वे गुरुजी के प्रतिनिधि के रूप में शिविरों का संचालन कर सकें। गुरूजी के दैनिक सांयकालीन प्रवचनों एव प्रतिदिन साधना संबंधी निर्देशों की टेप्स का एक सेट प्रत्येक सहायक आचार्य को दिया गया, जिससे वे सुचारू रूप से शिविर संचालन कर सकें। आज लगभग 700 सहायक आचार्य विशिष्ट सहायक आचार्य एवं आचार्य अपने-अपने क्षेत्र में ध्यान शिविरों का संचालन कर रहे हैं । बाल शिविरों के लिए भी भारत तथा अन्य अनेक देशों में लगभग इतने ही बाल शिविर शिक्षक नियुक्त किये गये हैं। विदेशों में आरंभ में कई वर्षो तक वे स्वयं अकेले ही विदेशों में शिविरों का संचालन करते थे। बाद में मांग बहुत बढ़ जाने से एक सुनियोजित व्यवस्था के अंतर्गत उनके द्वारा इन प्रशिक्षित सहायकों की सेवा के साथ-साथ उनकी अपनी असीम मंगल मैत्री के बल पर सारे विश्व में विपश्यना के पांव दृढ़ता पूर्वक जमे हैं।

भारत में जिस तरह विभिन्न प्रदेशों में स्थान-स्थान पर स्वयं शिविर का संचालन करते थे। जब विदेशों में इसकी जगह-जगह से मांग आने लगी तब वे सर्व प्रथम फ्रांस गये। वहाँ विभिन्न स्थानों में तीन शिविर लगे। कनाडा में एक कालेज में 186 साधक साधिकओं का शिविर लगा। इस प्रकार विदेशों में भी धर्म गंगा वह निकली और वहाँ लगभग पचास विपश्यना केन्द्रों में लाखों लोगों को धर्म लाभ प्राप्त हो रहा है। श्री लंका

से गुरूजी को ध्यान सिखाने का निमंत्रण मिला। 1980 को कैंडी की सिलोन युनिवर्सिटी में पहला शिविर लगा, दूसरा आनन्द कालेज के होस्टल में लगा। दोनो शिविर में काफी संख्या में साधकों ने लाभ लिया। विदेशों में शिविरों की मांग बढ़ती गयी और श्री सत्यनारायण जी को भारत के साथ-साथ विदेशों में भी शिविर के लिए जाना अनिवार्य हो गया। यूरोप की दूसरी यात्रा के दौरान स्विट्जरलैण्ड में दो शिविर लगे। कनाडा और शिकागो के क्रिश्चियन चर्च में शिविर लगे। आस्ट्रेलिया से भी शिविर के लिए दबाव बढ़ने लगा। अतः इस यात्रा में विश्व की परिक्रमा पूरी करते हुए अमेरिका से सीधे आस्ट्रेलिया गये। वहाँ सिडनी एवं पर्थ में एक-एक शिविर लगे। सन 2001 में लैटिन अमेरिका, वेनेज्युएला, ब्राजील और अर्जेंटाइना में शिविर लगे। उसी यात्रा में सुदूर पूर्व इंडोनेशिया, जावा और सिंगापुर में शिविर लगे। नेपाल वालों की माँग पर 25-03-81 के पहले शिविर में 243 साधकों ने भाग लिया। 1981 में पुनः इग्लैण्ड, अमरिका, आस्ट्रेलिया में शिविर लगे। प्रतिदिन साधकों की संख्या बढ़ती गयी और भारत के साथ-साथ विदेशों में स्थायी विपश्यना केन्द्र स्थापित होते चले गये। जनवरी 2000 में मस्कट के "हाफ फा हाऊस होटल" में तीन शिविर लगे। ओमन की सरकारी यूनिवर्सिटी के आयुर्विज्ञान विभाग ने विपश्यना के शिविर पर वैज्ञानिक ढ़ंग से शोध कार्य किया, जिसके बहुत अच्छे परिणम आये। इसी तरह ईरान में पहला शिविर लावासुन सुबारहन, तेहरान में 11 अगस्त 99 को लगा, बाद में अक्टूबर 2000 तक वहाँ 8 शिविर सफलता पूर्वक सम्पन्न हुए। उत्तरी ईरान में रमसर के "स्टूडेंट फ्राम इस्लामिया बैकग्राउण्ड" का

शिविर सिर्फ महिलाओं के लिए लगा। वहाँ साप्ताहिक सामूहिक साधनायें होती है तथा पुराने साधकों के एक दिवसीय, तीन दिवसीय शिविर नियमित लगते रहते हैं। "आर्ट ऑफ लिविंग" पुस्तक का जैसे अन्य अनेक भाषाओं में वैसे ही फारसी में भी अनुवाद छपा है। दुबई में वर्ष में कई शिविर लगते ही रहते हैं। इण्डोनेशिया के "मेदनूत सेन्द्रल जावा" में पहला शिविर दिसम्बर 1994 से आरम्भ हुआ, तब से हर दिसम्बर में एक शिविर लगता रहता है। जकार्ता के सन 1998 में लगे शिविर में मात्र 30 व्यक्ति बैठे थे, परन्तु बाद में पांच शिविरों सन 1999 तक 1000 से ऊपर साधक बैठे। अब तो इण्डोनेशिया की एक पहाड़ी के उपर बहुत ही रमणीक स्थान पर स्थायी ध्यान केन्द्र बन गया है। इसी तरह "साउथ अफ्रीका" के डरबन के "कवाजुला नाताल में एक शिविर अक्टूबर 1999 में लगा, दूसरा 12 नवम्बर, तीसरा 15 दिसम्बर को, अब वहाँ भी एक स्थायी केन्द्र बन गया है। चीन में भी सन 2000 में चार शिविर लगे। हॉगकांग में तो बहुत समय से शिविर लगते ही रहते हैं। जुलाई 1995 में श्री सत्यनारायण जी के ताईवान के विभिन्न स्थानों में अनेक प्रवचन हुए। अब वहाँ एक स्थाई ध्यान केन्द्र है, जहाँ विपश्यना साधना के शिविर लगते ही रहते हैं।

इगतपुरी से मासिक प्रेरणा पत्रिका "विपश्यना" हिन्दी में गत 33 वर्षो से नियमित प्रकाशित हो रही है, जिसमें श्रद्धेय गुरूदेव के बहुत ही प्रेरणात्मक और शिक्षापूर्ण लेख छपते हैं। इसमें उनके द्वारा रचित प्रेरणा भरे हिन्दी और राजस्थानी दोहे छपते हैं।

सन 1976 में राजस्थान सरकार ने इस विद्या से प्रभावित होकर

जयपुर "राजस्थान पुलिस अकादमी" में पुलिसकर्मियों के लिए एक शिविर 27 जनवरी से 6 फरवरी तक लगवाया, जिसमें 93 पुलिस अधिकारियों ने भाग लिया। इससे प्रभावित होकर सरकार ने जेल में विपश्यना का प्रयोग हो, की आज्ञा दी। जेल का पहला शिविर 04-01-1977 को लगा। इसके बहुत अच्छे परिणाम स्वरूप अन्य जेलों में शिविर लगने लगे और इनके आश्चर्यजनक परिणाम आने से सभी संतुष्ट हुए। 1994 में किरण वेदी के नेतृत्व में दिल्ली की तिहाड़ जेल में 1000 कैदियों को दस दिवसीय शिविर का अभ्यास करवाया गया। उनमें अनेक आतंकवादी बैठे। कैदियों के साथ-साथ 23 जेल के पुलिस व कर्मचारी भी थे। हर सांय जब गुरूजी के प्रवचन होते तो चारों जेलोंके साधक ही नहीं अन्य कैदी भी बड़ी तन्मयता के साथ सुनते रहे। कैदियों के व्यवहार और अनुशासन में सुधार को देखते हुए सरकार ने तिहाड़ जेल में ही स्थायी विपश्यना केन्द्र बनवाने की अनुमति दी। अब इस केन्द्र में हर महीने दो शिविर नियमित रूप से लग रहे हैं। सभी पुराने कैदी इसमें सामूहिक साधना का भी लाभ लेते है। जेलो में विपश्यना ध्यान शिविर से कैदियों में अभूतपूर्व सुधार, उनमें अनुशासन आया देखकर मध्य प्रदेश में रतलाम, भोपाल और जबलपुर की सेन्ट्रल जेलों में शिविर लगने लगे हैं। हिसार जेल, गोवा की जेल, पंजाब की संगरूर जेल, नासिक के केन्द्रीय जेल में स्थायी ध्यान केन्द्र बन गया है, जहाँ नियमित साधना होती है। पुलिस प्रशिक्षण अकादमी में पुलिस अधिकारियों तथा अन्य पुलिस कर्मचारियों के लिए एक हजार से अधिक साधकों का विपश्यना शिविर मार्च 1999 में लगा। पुलिस विभाग को ; इस साधना का सतत लाभ मिले, इसलिए वहाँ एक स्थायी

केन्द्र स्थापित हुआ, जहाँ हर महीने एक शिविर लगता है। यहाँ 19 से 30 नवम्बर 2001 में 16 सहायक आचार्यों की मदद से 1177 जवानों का एक शिविर लगा।

महाराष्ट्र शासन के वित्त विभाग के द्वारा 10-02-1996 को एक आदेश प्रज्ञापित हुआ, जिसके अनुसार डिप्टी सेक्रेटरी से ऊँचे पदों पर जो सरकारी पदाधिकारी हैं वे विपश्यना ध्यान शिविर में बैठें तो उन्हे 14 दिन का सवैतनिक अवकाश प्रदान किया जायेगा और जाने-आने का खर्चा भी सरकार वहन करेगी। इस प्रकार का निर्णय मध्य प्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान व आन्ध्र प्रदेश की सरकारों ने भी लिया है। मध्य प्रदेश के शासन प्रशिक्षण में दस दिन का विपश्यना शिविर सम्मिलित किया गया है।

पूना और नासिक के प्रसिद्ध सिम्बोलिस कालेज में जहाँ बिजनेस मैनेजमेंट के मास्टर डिग्री तक की पढ़ाई होती है, वहाँ प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक दस दिवसीय शिविर और नित्य साधना अनिवार्य कर दी गयी है।

जब से शिक्षा प्रणाली में विपश्यना का प्रयोग हुआ है, शिक्षा क्षेत्र में अदभुत क्रांति आई है। अध्यापकों की कार्य कुशलता, छात्रों में स्मरण शक्ति, अनुशासन का संवर्धन हुआ है। भारत में ही नही, अन्य अनेक देशों में प्राइमरी से लेकर हाईस्कूल तक के छात्र-छात्राओं से लेकर कालेज के विद्यार्थी विपश्यना साधना से लाभान्वित हो रहे है। बालकों में इस छोटी उम्र में ही नैतिकता के बीज पड़ रहे हैं। स्थायी केन्द्रों एवं स्कूलों में बाल शिविर प्रायः सभी जगह लग रहे हैं, जिससे छोटे बालक-

बालिकाओं के मन में बचपन से ही धर्म के बीज पड़ जाते हैं। बहुत सारे स्कूलों में हर कक्षा में 10 मिनट ध्यान करने के बाद ही पढ़ाई शुरू होती है।

पिछले कुछ बर्षो से ही श्री गुरूदेव ने हर ध्यान केन्द्र की देखरेख करने एवं उस क्षेत्र में लगने वाले अस्थायी केन्द्रों की व्यवस्था, शिविर संचालन के लिए सहायक आचार्य की व्यवस्था करने आदि के लिए एक-एक क्षेत्रीय आचार्य की भी नियुक्ति की है। इस प्रकार भारत के साथ-साथ नेपाल, इजरायल, जापान, मिडिल ईस्ट एशिया, मंगोलिया, बर्मा, लंका, ताइवान, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, यूरोप, नार्थ अमेरिका, साऊथ अमेरिका आदि देशों में सहायक आचार्य, विशिष्ट सहायक आचार्य एवं आचार्य नियुक्त किए गये है।

जन्म-जन्मांतरों से मन पर संस्कारों-विकारों की जो परतें पड़ी हैं और नये-नये विकार बनाते रहने का जो स्वभाव बन गया है, उससे छुटकारा पाने के लिए विपश्यना साधना का अभ्यास नितांत आवश्यक है। मात्र दस दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति पारंगत नही हो जाता। अभ्यास पूरे जीवन भर का है। जितना अभ्यास बढ़ता है, उतना धर्म जीवन में उतरता है। जीवन जीने की कला पुष्ट होती है। निर्विकार चित्त मैत्री, करुणा और समता के सदगुणों से भरता है। इस साधना से मन में पल रहे राग, द्वेष, क्रोध आदि नष्ट होते हैं। सौभाग्य से यह आत्म निरीक्षण के अभ्यास की साधना विधि ब्रह्मदेश से लगभग सवा दो हजार वर्षो से आज तक गुरू शिष्य परंपरा द्वारा अपने शुद्ध रूप में जीवित रखी गयी। यह विधि इस देश की पुरातन निधि है, परन्तु हमने इसे खो दिया।

श्रद्धेय कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण जी भागीरथ की तरह इस खोई हुई धर्म गंगा को ब्रह्मदेश से इस देश में पुनः ले आये और यह भारत ही नही वरन पूरे विश्व में फैल गयी और फैलती जा रही है और जन-जन का कल्याण कर रही है।

जनवरी 2000 में 32 देशों के लगभग साढ़े सात सौ यात्री पूज्य गुरूदेव के साथ धर्म भूमि म्यांमार (बर्मा) की यात्रा में गये। यांगों (रंगून) के "धम्म ज्योति" केन्द्र एवं परम पवित्र स्वेडगोन पगोड़ा में प्रातः 6 बजे एवं 9 बजे रात्रि तक पूज्य गुरूदेव एवं माताजी के साथ नित्य सामूहिक साधना होती। तीर्थ यात्रियों का समूह चोटियों-पहाड़ों रंगून एवं माडले में "धर्म मंडप" साधना केन्द्र, परम पूज्य अरहंत धर्मदर्शी की तपोभूमि सगाइ, "हिल स्टेशन" मैम्यो, मोवां, चौसे मोगोक नगर जहां दो स्थायी ध्यान केन्द्र हैं, सब जगह सामूहिक, साधना, वहां की तपोभूमि जहां संतो ने वर्षों तप किया था, दर्शन किया।

विश्व आर्थिक मंच (वर्ल्ड एकोनामिक फोरम) का वार्षिक अधिवेशन स्वीटजरलैंड के "डाओस" नगर में 27.01 से 01-02-2000 तक संयोजित हुआ था। यह विश्व का ऐसा सर्वोच्च सम्मेलन माना जाता है, जिसमें विश्व के हर देश के शीर्ष राजनेता जैसे अमेरिकी राष्ट्रपति, ब्रिटिश प्रधानमंत्री ऐसे ही अन्य देशों के राष्ट्राध्यक्ष, प्रधानमंत्री, वित्तमंत्री, राजाओं एवं शीर्ष उद्योगपति, व्यवसायी आदि एकत्र हुए। इसमें सत्यनारायण जी भी आमंत्रित थे। कार्यक्रमानुसार हर एक दिन श्री गोयन्काजी का प्रवचन होता था। उन्होंने बताया सभी सम्प्रदाय की शिक्षा का सार शील, सदाचार, मैत्री करुणा है। कर्मकांड, दार्शनिक मान्यताएं एवं रूढ़ियाँ तो उपरी छिलके हैं।

शुद्ध धर्म की शिक्षा वर्ग-विहीन, सार्वजनीन, व्यवहारिक और असुफलदायनी है। चित्त की एकाग्रता, चित्त की शुद्धि का अभ्यास सार्वजनीन है। श्रोता बड़े ध्यान से उन्हे सुनते थे और प्रसन्नता व्यक्त करते थे। विपश्यना ध्यान साधना के बारे में जानकारी प्राप्त कर सभी श्रोतागण बड़े प्रमुदित हुए तथा इस ध्यान के बारे में अधिक जानकरी के लिए अनेक प्रश्न पूछे । उनके उत्तर से सब बहुत प्रसन्न हुए।

जब यूरोप के विपश्ययी साधकों को वहॉ के दैनिक पत्रों से पूज्य गुरूदेव के डाओस आने की सूचना मिली, बड़ी संख्या में साधक आये, उन्होंने निवेदन किया कि वहाँ के कई स्थायी विपश्यना केन्द्र में वे पधारें। स्वास्थ्य तथा अत्याधिक व्यस्त कार्यक्रमों के कारण चाहते हुए भी वे उन सब केन्द्रों पर नहीं जा सके। ज्यूरिक के कांग्रेस हाल में उनके दो सार्वजनिक प्रवचन हुए। प्रवचन का जर्मन भाषा में अनुवाद भी चलता रहा। श्रोताओं में व्यवसायी तथा विद्वत वर्ग के लोग थे। स्वीट्जरलैंड के अग्रणी समाचार के संवाददाताओं ने उनका साक्षात्कार किया। पु० गुरूदेव दस साल बाद यूरोप गये थे। इन दस वर्षो में इस विधि का खूब प्रसार हुआ। जो बीज उन्होंने बड़ी सावधानी के साथ बोये थे, अब यूरोप के कई देशों में विपश्यना केन्द्रों के रूप में विशाल वृक्ष बन गयें हैं।

अगस्त 2000 में यू.एन.ओ. के प्रधान सचिव कोफी अन्नान की अध्यक्षता में आयोजित "सहस्राब्दी विश्वशांति शिखर सम्मेलन" न्यूयार्क मे धार्मिक एवं आध्यात्मिक नेताओं ने भाग लिया था। पूज्य गुरूदेव ने अपने प्रस्तुतीकरण में इस बात पर जोर दिया कि जो बातें सभी आध्यात्मिक मार्गो में समान है, उस सर्वव्यापी धर्म यानी कुदरत के कानून को महत्व

देना चाहिए। सभी मत-मतांतरों के लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि शील सदाचार का पालन करना चाहिए। मन को वश में करना चाहिए और उसे निर्मल कर उसमें मैत्री, करूणा, सदभावना, सदगुण भरने चाहिए, यही धर्म है, अन्यथा यदि तोड़ता हो तो धर्म नही है। धर्म परिवर्तन के पक्ष और विपक्ष पर चर्चा हुई तो उन्होंने कहा "मैं परिवर्तन के पक्ष में हूँ परन्तु परिवर्तन एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में नही, बल्कि परिवर्तन दुख से सुख में, बंधन से मुक्ति में, क्रूरता से करूणा और प्रेम में होना चाहिए। आज ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता है और इसी के लिए इस सम्मेलन में प्रयास करना है।" तालियों की गड़गड़ाहट के साथ सबने इसका जोरदार स्वागत किया। उनका प्रवचन बहुत लम्बा था, वहाँ उपस्थित विश्व से आये सारे प्रतिनिधि उनके प्रवचन से इतने प्रभावित हुए कि बार-बार तालियाँ बजाते रहे। भाषण के अंत में खड़े होकर तालियों की गड़गड़ाहट के साथ उनका अनुमोदन किया।

पूज्य गुरूदेव एवं माताजी ने जयपुर में 7 मार्च को सांय राज्य सरकार के लगभग 40 उच्चतम अधिकारियों को संबोधित किया। बिरला ऑडिटोरियम में सार्वजनिक प्रवचन हुआ, जिसमें 1500 श्रोताओं को धर्मलाभ प्राप्त हुआ। प्रवचन के पश्चात राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत ने सरकारी अतिथिगृह में पूज्य गुरूजी से भेंट करके शुद्ध धर्म की जानकारी प्राप्त की। 9 मार्च को स्थानीय समाचार पत्रों के संवाददाताओं से साक्षात्कार में विपश्यना संबंधी जानकारी दी और सायं राजस्थान विश्व विद्यालय में प्रवचन हुआ। 10 मार्च की प्रात : राजस्थान अधिकारी परीक्षण संस्थान में राज्य सेवा के अधिकारियों को संबोधित किया। इस

यात्रा में हरियाणा के ध्यान केन्द्र "धम्मसोत" एवं पुलिस अकादमी में उनका प्रवचन तथा सांयकाल लोकसभा के सदस्यों एवं उनके परिवार जनों के लिए धर्म प्रवचन हुआ। ध्यान केन्द्र धम्मतिहाड़ में तिहाड़ जेल के कैदियों को धर्म प्रवचन हुआ। 16 से 18 मार्च तालकटोरा इनडोर स्टेडियम में पुराने साधकों के तीन दिवसीय प्रवचन श्रंखला का आयोजन था, जिसमें कई हजार श्रोता लाभान्वित हुए। 18 मार्च को केन्द्र सरकार के लगभग 150 आई.ए.एस. एवं आई.पी.एस. अधिकारियों को संबोधित किया।

सन अस्सी के दशक में साधकों की मांग पर यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, जापान आदि देशों की उन्होंने अनेक बार यात्राँए की थी। विपश्यना के व्यापक प्रसार के लिए इन देशों में वे लगभग प्रतिवर्ष जाते थे। उनके प्रयत्नों से ही वहाँ विपश्यना का खूब प्रचार प्रसार हुआ। नब्बे के दशक में दक्षिण व दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में उनकी बहुत मांग रही । इससे उन देशों में नही जा सके। वहाँ के साधकों की बहुत मांग पर 12 अगस्त 1990 में इंग्लैण्ड के ध्यान केन्द्र "धम्मदीप" में यूरोप देश के 504 पुराने साधकों के एक दिवसीय शिविर में धर्म प्रवचन दिया। यूरोप के अनेक देशों से आये सहायक आचार्य, ट्रस्टियों को गुरूजी ने मार्ग दर्शन दिया। बी.बी.सी. की विश्व प्रसारण सेवा को तथा एक प्रसिद्ध जर्मन साप्ताहिक को एवं "लंदन टाइम्स" एवं "एशियन एज" के पत्रकारों को साक्षात्कार दिया । दिनांक 14 और 15 को उनके सार्वजनिक प्रवचन हुए। 16 अगस्त को लंदन से अमेरिका के लिए रवाना हुए। वहाँ के प्रत्येक विपश्यना केन्द्र में साधकों, सहायक आचार्य एवं ट्रस्टियों से

मिले। वहाँ भी स्थान-स्थान पर पत्र-पत्रिकाओं के संवाददाताओं को साक्षात्कार दिया। कई शहरों में उनके सार्वजनिक प्रवचन हुए। "कामन वेल्थ क्लब रेडियो प्रोग्राम" एवं के.पी.एफ.ए. आकाशवाणी को साक्षात्कार दिया। कनाडा के अनेक क्षेत्रों के सहायक आचार्य एवं ट्रस्टियों से मिले। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा के विपश्यना कार्यक्रमों को ऐतिहासिक प्रेरणा देकर उन्होंने अमेरिका से विदा ली।

हैदराबाद का स्थायी ध्यान केन्द्र "धम्माखेत" जिसकी 1975 में स्थापना हुई थी। वहाँ के साधकों ने इस केन्द्र की रजत जयन्ती समारोह पर गुरूजी को निवेदन किया कि वे और माताजी पधारें । आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चन्द्रबाबू नायडू से गुरूदेव की स्विटजरलैंड में आयोजित "वर्ल्ड इकॉनामिक फोरम" में भेंट हुई थी, तब से उनका गुरूजी से बहुत आग्रह था कि वे राज्य अतिथि के रूप में हैदराबाद आने का कार्यक्रम बनायें, ताकि उनके प्रदेश के लोगों का मंगल सधे। हैदराबाद आश्रम की रजत जयंती के अवसर पर गुरूजी हैदराबाद आये। दिनांक 20 से 24 सितम्बर तक गुरूदेव के क्रमशः पाँच प्रवचन "ललितकला तोरण" अकादमी के विशाल पंडाल में हुए। चार हजार लोगों को बैठने का प्रबंध था, फिर भी जगह नही मिलने से बहुत लोगों ने खड़े रहकर प्रवचन सुना। मुख्यमंत्री ने पूज्य गुरूदेव का स्वागत किया और पूज्य माताजी सहित उन्हें प्रवचन मंडप के मंच पर बैठाकर धर्म प्रवचन के लिए निवेदन के पश्चात स्वयं पब्लिक के बीच में जाकर बैठ गये। प्रवचन के बाद प्रेस कान्फ्रेन्स का आयोजन था। उनका एक प्रवचन "उस्मानिया विश्व विद्यालय के प्रांगण में "धर्म इन एजुकेशन" विषय पर हुए। प्रवचन में 1200 सीट का

आडिटोरियम पूरी तरह भर चुका था। अपेक्षा से अधिक संख्या में एकत्र हुए विद्यार्थियों को बैठने की जगह नही थी। बाहर "क्लोज सर्किट टी.वी." के द्वारा उनका प्रवचन सुनते रहे।

25 की प्रातः वे बैंगलोर गये वहाँ उनके तीन प्रवचन हुए हाल पूरी तरह भर जाने से कुछ लोग बाहर खड़े सुनते रहे।

29 को प्रातः चेन्नई के नवनिर्मित विपश्यना केन्द्र "धम्मसेतु" में ठहरे सांयकाल "म्यूजिक अकादमी" हाल में जो लगभग 1500 की क्षमता वाला हाल है पूरी तरह भरा हुआ था। दूसरे दिन केन्द्र पर ही सहायक आचार्य ट्रस्टी के साथ मीटिंग थी। सांय डी.ए.वी. स्कूल में "धर्म इन एजुकेशन" विषय पर प्रवचन हुआ। म्यूजिक अकादमी हाल में तीन दिन उनके विभिन्न विषयों पर प्रवचन हुए। इसके बाद अगला पड़ाव 3 अक्टूबर को नागपुर में था। वहाँ के विपश्यना केन्द्र "धम्मनाग" में ठहरे। 4 अक्टूबर को 6000 पुराने साधकों के सामूहिक साधना में गुरूजी ने मंगल मैत्री दी। नागपूर के युनिवर्सिटी ग्राउंड में सार्वजनिक प्रवचन हुए, इसमें लगभग 10 हजार से अधिक लोगों ने भाग लिया। इसी स्थान में उनके तीन दिन तीन प्रवचनों में नित्य प्रति सुनने वाले श्रद्धालुओं की संख्या बढ़ती गयी। 7 अक्टूबर को भारत रत्न अंबेडकर की कर्मस्थली के विशाल प्रांगण में प्रातः प्रवचन था, जिसमें उन्होंने लगभग 25 हजार लोगों की भीड़ को संबोधित किया। उनके 7 एवं 8 अक्टूबर के प्रवचन के बाद 9 अक्टूबर को नागपुर की केन्द्रीय जेल में वहाँ के साधकों को मंगल मैत्री दी एवं सार्वजनिक प्रवचन हुआ। इस समय महाराष्ट्र के आई.जी. ने स्वयं उपस्थित होकर बंदियों को संबोधित किया और उनके लिए अनेक प्रकार की

सुविधाओं का एलान भी किया। नागपुर की जेल में कई विपश्यना शिविर लग चुके हैं, वहाँ एक स्थाथी विपश्यना केन्द्र स्थापित करने की योजना बनी। सांयकाल के विमान से गुरूदेव व माताजी मुंबई लौट गये।

दिनांक 17.2.2001 से 02-03-2001 को विपश्यन यात्रा एक धर्म यात्रा थी। एक चलती फिरती विपश्यना शिविर। संसार के 18 देशों से लगभग 700 विपश्यी साधक-साधिकाएं की अभिन्न अंतर्यात्रा थी। विश्व विपश्यनाचार्य कल्याणमित्र श्री सत्यनारारण गोयन्काजी तथा माताजी के सान्निध्य में यह यात्रा सम्पन्न हुई। इस गतिशील विपश्यना यात्रा में मुंबई सेंट्रल रेलवे स्टेशन से, रेलवे के 18 डिब्बों वाली विशिष्ट गाड़ी संपूर्णतः विपश्यी साधकों के लिए आरक्षित थी। इस विपश्यना वाहिनी रेलगाड़ी पर सवार होकर बनारस (सारनाथ), गया (बोध-गया) राजगृह, नालंदा, वैशाली, गोंडा (श्रावस्ती), गोरखपुर (कुशीनगर) होते हुए भगवान बुद्ध की पावन जन्मस्थली लुम्बिनी (नेपाल) पहुँचे। भगवान बुद्ध 35 वर्ष की अवस्था में बोधि प्राप्त करके जीवन के शेष 45 वर्षो तक लोक सेवा में लगे रहे। जिन स्थानों पर वे प्रमुख रूप से रहे, तथा जहाँ उन्होंने विपश्यना विद्या सिखाई, उस स्थानों का मात्र दर्शन करना ही इस यात्रा का उद्देश्य नहीं था। उद्देश्य था उन पावन स्थानों पर, गुरूदेव एवं माताजी के निर्देशन में विपश्यना का ध्यान करना, वहाँ के ऐतिहासिक साक्ष्यों का साक्षी बन धर्म संवेग जगाना।

धर्म के कीर्ति स्तम्भ, धर्म मार्ग के कुशल सारथी श्री सत्यनारायणजी 26 अप्रैल 2001 को काठमांडू आये। यहाँ के विपश्यना केन्द्र में उनका कुछ दिन का निवास, आवश्यक साहित्य सृजन था। वह काम पूरा करके

12 जून को काठमांडू से थाइलैंड होते हुए बर्मा पहुँचे। 24 जून को जब पूज्य गुरूजी बैंकाक हवाई अड्डे पर उतरे तो वहाँ शाही अधिकारियों सहित थाई एयरवेज के क्रू मेम्बरों ने पूज्य गुरूजी का राजकीय अतिथि के रूप में भावभीनी स्वागत किया और ससम्मान विशिष्ट अतिथि कक्ष में ले गये। वहाँ उन्हें फूल मालाएं अर्पित करते हुए उनसे धर्म के दो शब्द बोलने का आग्रह किया। पूज्य गुरूजी धर्म संबंधी कुछ वक्तव्य देकर मंगल मैत्री प्रदान की। तत्पश्चात कतारबद्ध शाही अंदाज में भूयान तक लाकर विदाई दी। यहाँ के कार्यक्रमों में उल्लेखनीय रहे - स्थानीय चूलालांगकोर्न यूनिवर्सिटी में उनका प्रवचन एम.एल. मणिरत्नम बुनांग धम्म सोसायटी के विद्वानों के साथ परिचर्चा और धम्म आभा एवं नवनिर्मित फिसनुलोक (विष्णुलोक) विपश्यना ध्यान साधना केन्द्र में मंगल मैत्री एवं स्थानीय स. आचार्य, साधकों तथा ट्रस्टियों से बातचीत एवं मार्गदर्शन।

थाइलैंड की राजकुमारी के कुलाधिपतित्व और संरक्षण में रोमनलिपि में विश्व स्तर के त्रिपिटक प्रकाशन का बीड़ा उठाया, जो कि छट्ट संगायन पर आधारित होगा। चूलालंग कोर्न युनिवर्सिटी और धम्म सोसायटी फंड की ओर से पूज्य गुरूजी के प्रवचन थाइलैंड की राजकुमारी गल्यानी बदना के सभापतित्व में संपन्न हुआ। उनका प्रवचन सरकारी टेलीविजन के चैनल पर थाई अनुवाद सहित पूरे विश्व में प्रसारित किया गया। 29 जून को "होटल हिल्टन इन्टरनेशनल" के हाल में 300 साधक गुरूजी से मिले और धर्म चर्चा की। दूसरे दिन पूज्य गुरूजी द्वारा वि.वि.विन्यास इगतपुरी द्वारा निर्मित छट्ट संगायन सीडी वहाँ की राजकुमारी को भेंट दी गई, जिसे उन्होंने प्रमुख संरक्षिका होने के नाते "धम्म सोसाइटी फंड" के लाभार्थ स्वीकार किया। नवनिर्मित विपश्यना केन्द्र "धम्म आभा" यह आश्रम हरी-

भरी सुरम्य पहाड़ियों से घिरे 61 एकड़ भूमि पर बना है। थाइलैंड की प्राचीन स्वर्णभूमि के ट्रस्टियों ने एक और याने तीसरे ध्यान साधना केन्द्र निर्माण की योजना रखी, जिसे स्वीकार करते हुए गुरूजी ने उसे "धम्मकच्चनें" मान से विभूषित किया। 4 जुलाई को पुन : म्यामांर के लिए प्रस्थान किया। वहाँ पहुँच कर अपने लेख का काम जारी रखा और हर रविवार को यांगों के विपश्यना केन्द्र "धम्म ज्योति" पर प्रातः 8 से 9 की सामूहिक साधन में सम्मिलित होने के बाद साधकों, ट्रस्टियों से मिलकर उनके प्रश्नों का समाधान करते रहे। वहाँ की युनिवर्सिटी एवं अन्य स्थानों में उनके प्रवचन होते थे।

विश्व विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण जी 79 वर्ष की इस बढ़ी ड़ुई उम्र में अभी-अभी इग्लैण्ड तथा उसके बाद संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कनाडा की साढ़े तीन महीने की लम्बी यात्रा गृहयान (मोटर होम) द्वारा उन देशों के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक की और वहाँ के जन जन में धर्म चेतना जगायी। अलग अलग नगरों में उनके धर्म प्रवचन होते रहे, जिनमें बहुत बड़ी संख्या में वहाँ के नागरिक उनकी धर्मवाणी का लाभ लेते रहे। लौटते हुए हालैण्ड के ध्यान केन्द्र पर रूके और हालैंड, बेल्जियम और जर्मनी में धर्मचारिका की। संयुक्त राष्ट्रसंघ, न्यूयार्क में एक बार फिर उनका प्रवचन हुंआ। इसमें अनेक देशों के राजदूत तथा राजनैयिक सपरिवार सम्मिलित हुए । केनेडा में वहाँ के प्रधानमंत्री श्री क्रेतियेन, यूरोपियन यूनियन के वणिज्य मंत्री श्री पास्कल लामी ने विपश्यना द्वारा जनकल्याण के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की।

श्री सव्यनारायण के सात्विक, धार्मिक जीवन, समाज सेवा, देश

सेवा आदि से प्रभावित होकर बर्मा के प्रधानमंत्री ऊ नू ने उन्हे "वूण्णा चौटिन" अलंकार से विभूषित किया था, जो कि भारत के "पद्‌म भूषण" जैसा अलंकरण है। नालंदा महाविहार "पाली इंस्टीटयूट द्वारा उन्हें ऑनरेरी डी.लिट (डाक्टरेट) एवं सारनाथ की तिब्बती विशोधन संस्थान ने भी इन्हें डाक्टरेट "वाक्पति" की उपाधि से अलंकृत कर सम्मानित किया था। म्यामांर (बर्मा) के प्रसिद्ध महाविहार ने उन्हें "महाउपासक विश्व गुरू" करेन के सर्वोच्च महाविहार ने "अभिनव अशोक" की उपाधि से अलंकृत किया। वर्तमान म्यामांर सरकार ने उन्हें "महासद्धम ज्योतिद्धज" की विशिष्ट उपाधि से अलंकृत कर सम्मानित किया।

जहाँ सम्राट अशोक ने गौतम बुद्ध की वाणी, उनकी शिक्षा, उनकी बताई ध्यान साधना विधि को साम्राज्य सत्ता का सदुपयोग कर अरिहंत भिक्षुओं के माध्यम से सारे भारत एवं विश्व के अनेक देशों में भेजी और उसका विशद प्रचार किया। वहीं आज 2200 वर्षों बाद कल्याण मित्र श्री सत्यनारायण गोयन्का और उनकी धर्मपत्नी स्वयं सारे भारत में ही नही बरन सारे विश्व में धर्मचारिका करते हुए इस मुक्तिदायनी भगवती विद्या को मुक्त हस्त से बांटने का वही धर्मकार्य कर रहे हैं। उन्होंने 700 से कुछ अधिक विपश्यना के आचार्य प्रशिक्षित किए हैं जो कि भारत एवं अनेक देशों में विपश्यना का अनमोल रत्न विश्वभर में बांट रहे हैं। भारत एवं विश्व के सभी महान देशों में स्थान-स्थान पर विपश्यना केन्द्र स्थापित किये हैं जहाँ साधना शिविर नियमित लगते रहते हैं। स्थान-स्थान पर नये केन्द्र खुलते जा रहे हैं। इस कारण भारत फिर एक बार विश्व गुरू के पद पर सुशोभित हो रहा है।

❊ ❊ ❊ ❊ ❊

आचार्य श्री तुलसी

प्रत्येक समाज तथा राष्ट्र में समय समय पर मानव जाति के उद्धारक पुरूष जन्म लेते हैं। हम जाने या न जाने, वे अपनी शाश्वत उपस्थिति से मानवता की धरती को जीवन रस से सींचते रहते हैं। मानवता के उन सनातन पुरूषों में एक अभिनन्दनीय नाम है - अणुव्रत के प्रवर्तक राष्ट्र संत श्री तुलसी का।

वे वर्तमान युग की एक पूर्णतम विभूति, परम आध्यात्मिक मानवता की अन्तरात्मा थे। वे एक श्रेष्ठ लोकनायक थे। लोकनायक वह होता है जिसकी दृष्टि समन्वय प्रधान हो, जो अनेकता में एकता का खोजी हो, भारत ज्योति श्री तुलसी मानवीय एकता, राष्ट्रीय अखण्डता, धार्मिक सहिष्णुता और संप्रदायिक सौहार्द स्थापित करने की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहे।

आचार्य श्री तुलसी जी का जन्म "लाडनूँ", राजस्थान में सन् 1925 में हुआ था। वे जब मात्र 11 वर्ष के थे तब उनमें धर्म ज्ञान उपजा और

वे तेरापंथ धर्मसंघ के आठवें आचार्य श्री कालूगणी की सेवा में पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि उन्हें जैन मुनि की दीक्षा देवें। बालक की दृढ़ आस्था, दृढ़ निष्ठा, धैर्य, साहस को परखकर और संतुष्ट होकर, उन्हें तेरापंथ धर्म संघ की दीक्षा दी। उनकी शिक्षा का प्रबंध मुनि चंपालालजी को सौंपा। सात वर्ष में वे संस्कृत भाषा के विद्वान बन गये साथ-साथ जैन आश्रम और जैन दर्शन के विद्वान भी बन गये। 20 हजार संस्कृत के श्लोक उन्होंने कंठस्थ कर लिये थे। मुनि चंपालाल एवं आचार्य श्री कालूगणी ने उनको विविध प्रकार से प्रशिक्षित किया। वे राजस्थानी में कविता लिखते थे एवं शुद्ध हिन्दी में उनका भाषण बहुत सुलझा हुआ और मार्मिक होता था। जब आचार्य श्री कालूगणीजी सन 1936 में बीमार होकर मरणशय्या पर थे, तब उन्होंने युवा तुलसी को अपना उत्तराधिकारी, अपना आचार्य, युवाचार्य को संप्रेषित किया।

उस समय श्री तुलसीजी सिर्फ 22 वर्ष के थे। 500 जैन मुनि एवं साध्वी और लाखों की संख्या में श्रावक जो सारे भारत में फैले हुये थे उनके शिष्य एवं अनुयायी हो गये। इतनी बड़ी जिम्मेदारी उनके सिर पर आयी जिसमें वे बड़ी निष्ठा, लगन, धर्मशक्ति से पूर्णतया सफल रहे। वे तेरापंथ को इतनी ऊँचाइयों पर ले गये, जिससे सारे भारत में उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। अणुव्रत अनुशास्ता ने अणुव्रत मिशन के माध्यम से जन-जन की नैतिक और चारित्रिक चेतना को जागृत किया। इसके लिए उन्होंने कठोर श्रम किया, प्रखर तपस्या की। आचार्य श्री तुलसी ने उन लक्ष्यों को पुर्नजीवित किया। लोक मंगल की यात्रा में यात्रायित इस ऋषि ने पंजाब से कन्याकुमारी और कलकत्ता से कच्छ तक

की देश की धरती को अपने कदमों से नापा। उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर की पदयात्रा करते हुए उन्होंने श्वास और प्रश्वास की भांति राष्ट्र की काया में चारित्रिक चेतना का संचार किया। द्रुतगामी यान-वाहनों के जमाने में राष्ट्र संत श्री तुलसी अपने शिष्य शिष्याओं तथा अणुव्रती कार्यकर्ताओं के बड़े काफिले के साथ सदा पदयात्रा करते रहे। गांव-गांव और घर-घर जाकर वे आध्यात्म का उजाला और अणुव्रत का अमृत बांटते रहे। एक पश्चिमी विचारक ने लिखा है - "जो पदयात्रा करता है, उसकी यात्रा सर्वोत्तम है।" श्री तुलसी ने सदा गतिशीलता और श्रमशीलता का जीवन जिया, किन्तु उनकी दृष्टि में गति और श्रम नही मूल्यवान थे जो उद्देश्यपूर्ण हो। गुरूदेव श्री तुलसी लक्ष्यहीन और निरूद्देश्य जीवन मानते थे। उनका जीवन महान लक्ष्य के लिए समर्पित रहा। उनके सन्यासी जीवन की सत्तर वर्षीय यात्रा-ज्योति की यात्रा रही। उनकी यात्राओं का उद्देश्य था-जन जीवन में भारतीय आध्यात्म संस्कृति की प्रतिष्ठा करना! धर्म के ग्रन्थों, पंथों और धर्म स्थानों से मुक्त कर उसे जीवनगत बनाने की प्रविधि प्रस्तुत करना, अहिंसक समाज की संरचना करना, नैतिकता संयम और सात्विकता के प्रति जन-सामान्य की आस्था जगाना। ये उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ थीं, और तनाव मुक्ति की दिशा में भी उनका अणुव्रत अभियान पूर्ण सक्रिय था और आज भी है।

विश्व शांति, अहिंसा और नि:शस्त्रीकरण की भावना को व्यापक और क्रियान्वित करने के लिए उनके निर्देशन में "अहिंसा इंटरनेशनल", "अणुव्रत विश्वभारती" आदि संस्थाएँ बहुत ही सुव्यवस्थित कार्य कर रही थी और आज भी कर रहीं है। उनके माध्यम से तुलसी की सशक्त

आवाज सरहद के पार भी पहुँची, फलस्वरूप विभिन्न देशों की संस्थाएँ विद्वान एवं विदेशी जिज्ञासु जो अणुव्रत प्रेक्षाध्यान आदि के साथ जुड़े हुए हैं, उपकृत हुए। वे अपने युग में समर्थ धर्म गुरू थे, जो सम्प्रदाय से ऊपर उठकर समाज और राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग का निष्पक्ष मार्गदर्शन करते थे और राष्ट्रीय चरित्र निर्माण की चिन्ता करते थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1992 का "इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार" उन्हें समर्पित किया। संत श्री तुलसी ने भी इस सम्मान को अत्यंत गम्भीरता के साथ स्वीकार किया। जिस समय उनका तेज और प्रताप मध्यान्ह के सूरज की भांति प्रखरता से तप रहा था, जिस समय उनकी ख्याति, कीर्ति और यशस्विता सिद्धियों के सर्वोच्च शिखर पर थी, उस समय बिना किसी पूर्व सूचना और पूर्व योजना के अपना महिमामाय आचार्य पद जो पिछले 58 वर्षो से आचार्य तुलसी के दीप्तिमान नेतृत्व से गौरवान्वित हो रहा था उसे अपने यशस्वी उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ को सौंप दिया। स्वयं पदमुक्त बनकर भी कार्यमुक्त नहीं हुए। अपनी अथाह ऊर्जा को समग्र मानवता के लिए, मानवीय व्यक्तियों के निर्माण के लिए नियोजित कर दिया।

उनके विचार -

धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं है। धर्म का स्थान पहला है, संप्रदाय का दूसरा है। धर्म आत्मा की पवित्रता, रागद्वेष से मुक्ति की साधना है। संप्रदाय एक परंपरा है, गुरू - आम्नाय है। उपासना का संबंध संप्रदाय के साथ हो सकता है और है। नैतिकता और अध्यात्म का संबंध चेतना की पवित्रता के साथ है। वे किसी संप्रदाय की सीमा में आबद्ध-निबद्ध

नही हैं। अणुव्रत असांप्रदायिक धर्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, अनेक संप्रदाय के लोगों द्वारा अणुव्रत की स्वीकृति। इस आंदोलन में ईसाई और मुसलमान भी सम्मिलित हुए। उन्हें यह प्रतीत हो रहा था कि इसमें हमारे सम्प्रदाय अथवा धर्म में कोई विरूद्ध बात नही है। अणुव्रत का किसी सम्प्रदाय के साथ संबंध नहीं है। वह एक ऐसे धर्म की परिकल्पना है, जो धर्म हो, किन्तु सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ न हो। इस परिकल्पना ने चिन्तन को नया आयाम दिया। नैतिकता सांप्रदायिक नही है। वह सबके लिए समान रूप से समादृत या समादरणीय होती है। इस चिन्तन ने आचार्य तुलसी को क्रांति का पुरोधा बना दिया।

नैतिकता और धर्म :

प्रश्न है - क्या नैतिकता धर्म से भिन्न है? समाधान की भाषा में कहा गया-नैतिकता धर्म से भिन्न नहीं है। नैतिकता धर्माचार है किन्तु धर्माचार केवल नैतिकता नहीं है। अणुव्रत के संदर्भ में धर्म के तीन रूप नैतिकता, उपासना और आध्यात्म प्रस्तुत किये गये हैं। ये तीनों बहुत पुराने हैं। कभी-कभी पुरानी बातें विस्मृति के गर्त में चली जाती है। उस विस्मृति के चक्र को तोड़ने में अणुव्रत की महत्वपूर्ण भूमिका है। उन्हें नया रूप दिया गया। उपासना की परिधि में सिमटा हुआ धर्म नैतिकता और आध्यात्म के व्यापक आयामों में फैल गया। नैतिकता-शून्य उपासना के प्रति एक नया दृष्टि कोण पनपने लगा। हम नहीं कह सकते, नैतिक मूल्यों की स्थापना हो गयी, पूरा समाज नैतिकता से अभिशक्त हो गया। यह कहा जा सकता है-धर्म के बारे में जो एक सोच थी, वह बदलने लगी। नैतिकता धर्म का पहला चरण है। उपासना का अधिकार वास्तव में उसी

व्यक्ति का है, जो नैतिक मूल्यों के साथ जी रहा है, इसलिए धर्म के क्षेत्र में पहला स्थान नैतिकता का और दूसरा स्थान उपासना का होना चाहिए।

अणुव्रत आन्दोलन ने उपासना को कभी नही छुआ। नैतिक नियमों के अनुपालन की जो बाध्यता है, वह उपासना की नहीं हो सकती। उपासना के विषय में अभिव्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता है, जिसकी जैसी श्रद्धा और रूचि हो, वो उसी प्रकार की उपासना को अपनाने में स्वतंत्र है। उपासना के लिए बाध्य भी किसी को नहीं किया जा सकता। कोई चाहे तो करे, किसी की इच्छा न हो तो न करे। अणुव्रत उपासना के प्रपंच से सर्वदा मुक्त रहा। यह धर्म के चक्र में रूपांतरण है। क्रांति का अर्थ है रूपान्तरण। धर्म के नियमों को देश, काल के अनुसार बदल लेना एक परिवर्तन है। उसे क्रांति नही कहा जा सकता। आचार्य तुलसी ने रूपान्तर की प्रक्रिया को महत्व दिया।

आर्थिक क्रांति, धार्मिक क्रांति

क्रांति के अनेक क्षेत्र हैं - सामाजिक क्रांति, आर्थिक क्रांति, राजनीतिक क्रांति आदि आदि। आचार्य तुलसी ने नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए धार्मिक क्रांति की किन्तु आर्थिक क्रांति के बिना क्या नैतिक मूल्यों का विकास हो सकता है? यह आम धारणा है अभाव की स्थिति में ही आदमी अनैतिकता का आचरण करता है। यदि धन और पदार्थ का अभाव न हो तो नैतिक मूल्यों की समस्या अपने आप सुलझ जाये। प्रथम दर्शन में यह तर्क बहुत अच्छा लगता है। नैतिक मूल्य निष्ठा के आधार पर विकसित होते हैं। उनके अभाव में निष्प्राण बन जाते हैं, अर्थ संपन्न और पदार्थ संपन्न लोग नैतिकता का जितना अतिक्रमण करते हैं, उतना

अभावग्रस्त लोग शायद नही करते हैं। नैतिकता के लिए आवश्यक है जनमानस में निष्ठा का निर्माण। धर्म और ईश्वर को मानने वाले लोगों में उपासना-धर्म और ईश्वर के प्रति जितनी निष्ठा है, उतनी नैतिकता के प्रति नहीं है। इसलिए आर्थिक क्रातिं नहीं हो पाती और आती तो टिक नहीं पाती।

समाज और समाजवाद की अवधारणा बहुत अच्छी है। किन्तु वैयक्तिक स्वार्थ और हित के लाभ में उसका आकर्षण शून्य हो जाता है। पूंजीवाद के पनपने का आधार बना व्यक्तिगत स्वार्थ और साम्यवादी प्रणाली में व्यक्तिगत हित और स्वार्थ पर अंकुश लगाया गया तो कार्य के प्रति आकर्षण कम हो गया और श्रम के प्रति रूचि भी न्यून हो गई। वैयक्तिक हित और स्वार्थ की समस्या को सुलझाने का कोई तरीका अब तक सामने नहीं है। इतिहास काल में जितनी भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रांतियां हुई हैं उनमें से कोई भी समाज व्यवस्था को बदलने में सफल नही हुई है। मार्क्सवाद एक बार सफलता का आभास करा रहा था पर उसकी प्रणाली भी स्थायी नही बन सकी। क्रांति के लिए अर्थ और पदार्थ को पकड़ा गया, चेतना को नही पकड़ा गया। इसलिए क्रांति स्वयं में उलझ कर रह गई।

विसर्जन

आचार्य श्री ने केरल की यात्रा में विसर्जन का सूत्र दिया। "अर्जन" करने वाला हर व्यक्ति "विसर्जन" करें। व्यक्तिगत संग्रह, व्यक्तिगत स्वामित्व और व्यक्तिगत उपभोग हिंसा को आदर देते हैं। विसर्जन से संग्रह, स्वामित्व और उपभोग तीनों का परिष्कार होता है। आर्थिक विषमता और गरीबी

को मिटाने का यह एक प्रशस्त मार्ग है किन्तु आर्थिक स्पर्धा के युग में उसका सही मूल्य नहीं आंका गया। महात्मा गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धांत आर्थिक साम्य के लिए एक सुन्दर परिकल्पना है। उन्होंने लिखा - "फर्ज कीजिए कि विरासत में या उद्योग व्यवसाय के द्वारा मुझे प्रचुर संपत्ति मिल गई तब मुझे यह जानना चाहिए कि ये सभी संपत्ति मेरी नही है, बल्कि मेरा तो उस पर उतना ही अधिकार है जिस तरह दूसरे लाखों आदमी गुजर करते हैं, उसी तरह मैं भी इज्जत के साथ अपना गुजर भर करूँ। मेरी शेष संपत्ति पर राष्ट्र का अधिकार है और उसी के हितार्थ उसका उपयोग होना आवश्यक है।"

हम सबकी क्षमता एक-सी नहीं है। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि क्षमता एक-सी हो ही नही सकती। इसलिए कुदरत ने कुछ लोगों को कमाने की योग्यता अधिक दी होगी और दूसरों को थोड़ी। बुद्धिशाली लोगों की योग्यता अधिक होगी और वे अपनी बुद्धि का इस काम के लिए उपयोग करेगें। यदि वे उपकार की भावना रखकर अपनी बुद्धि का उपयोग करें तो राज्य का ही काम करेगें। ऐसे लोग संरक्षक बन कर रहते हैं और किसी तरह नहीं। बुद्धिशाली व्यक्ति को अधिक कमाने दूँगा, उसकी बुद्धि को कुंठित नही करूंगा। परन्तु उसकी अधिकांश कमाई राज्य की भलाई के लिए वैसे ही काम आनी चाहिए जैसे की बाप के तमाम कमाऊ बेटों की आमदनी परिवार के कोष में जमा होती है। वे अपनी कमाई संरक्षक बन कर ही रखेगें। यह ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त समाज ने नहीं अपनाया। आचार्य तुलसी का विसर्जन का सिद्धांत भी व्यापक नहीं बन सका यह क्यों? इस प्रश्न का उत्तर खोजना जरूरी है। यह उत्तर मनुष्य की प्रकृति

में ही खोजा जा सकता है। अधिकार और संग्रह उसकी मौलिक मनोवृत्ति है। इसलिए वह न तो ट्रस्टी बन कर संपत्ति का संरक्षक बनना चाहता है और न अर्जन के साथ विसर्जन के सिद्धान्त को अपनाना चाहता है। इस समस्या पर विचार करें तो फिर व्यक्ति परिष्कार की बात सामने आ जाती है। आचार्य तुलसी ने अनेक बार कहा - "हिंसा को सर्वथा मिटाया नही जा सकता। हमारा प्रयत्न इसीलिए है कि हिंसा का एकछत्र साम्राज्य न हो, हिंसा और अहिंसा का संतुलन हो।"

ट्रस्टीशिप और विसर्जन दोनों अहिंसक समाज रचना के स्वस्थ विकल्प हैं। हृदय परिवर्तन का कोई भी विकल्प समाज के लिए अनिवार्य नही बनता। अनिवार्य बनता है कानून। उसकी सम्यक अनुपालना नही होती। हृदय परिवर्तन और बल प्रयोग दोनों अपूर्ण हैं। पूर्णता के लिए दोनों का योग जरूरी है।

* * * * *

मुनि नथमल - महाप्रज्ञ

राजस्थान के झूँझनू जिले में टमकोर ग्राम में चौरड़िया परिवार में 14-6-1920 को मुनि नथमल का जन्म हुआ था। ढ़ाई मास की उम्र में ही पिता का साया सिर से उठ गया। नथमल की दो बड़ी बहने थीं। पिता के चले जाने पर परिवार का सारा दायित्व माँ के कंधों पर आ पड़ा। टमकोर में कोई स्कूल नही था, गुरूजी की पाठशाला में कुछ वर्णमाला व पहाड़े पढ़े। एक दो वर्ष बाद उन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। माता बालूजी धार्मिक विचारों की महिला थी, उसके संस्कार बालक पर पड़े। माता प्रतिदिन प्रातः उठकर सामायिक करती तथा जयाचार्य रचित चौबीसी, आराधना तथा आचार्य भिक्षु की स्तुति भजनों का संगान करती थी। महाप्रज्ञ भी सोये-सोये भजनों को सुना करते थे। निरन्तर श्रवण से नथमल के मन में आचार्य भिक्षु और उनकी रचनाओं के प्रति आकर्षण होने लगा। एक बार टमकोर में एक सन्यासी आया, वह घर-घर भिक्षा मांगता था। वह एक दिन नथमल के घर आया, बालक को देखकर उसके सिर पर हाथ रखा और कहा - यह बालक योगीराज होगा।

आचार्य श्री कालूगणी के आदेश पर मुनि छबीलजी स्वामी टमकोर चर्तुमास करने पधारे। उनके सहयोगी संत मुनि मूलचंदजी ने नथमल को जिसे बाल्यावस्था में नाथु कहते थे, तत्वज्ञान पढ़ने के लिए कहा। नथमल नियमित रूप से उनके पास जैन तत्व पढ़ने के लिए जाते, बालक की सरलता, सहज धार्मिकता ने मुनिजनों का ध्यान आकृष्ट किया। बालक की सौम्यता से प्रभावित होकर मुनि श्री ने उसे दीक्षा लेने के लिए प्रेरित किया। बालक के सुप्त संस्कार जाग उठे, उसका मन वैराग्य से भर उठा। एक दिन अवसर पाकर माँ से कहा, "माँ, मैं मुनि होना चाहता हूँ। माँ ने समझाया - साधु जीवन में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पैदल चलना पड़ता है, लोच करना भी कितना कठिन है।", तुम्हारे दीक्षा लेने से तोलाराम जी का वंश कैसे चलेगा? युवा नथमल पर इन बातों का कोई असर नही हुआ। मुनि छबीलजी की शिक्षा ज्ञान से नथमल प्रभावित होता चला गया, उन्होंने नथमल की माँ को गंगाशहर में आचार्य कालूगणी के दर्शन करने की प्रेरणा दी। गंगाशहर में नथमल अपनी माँ के साथ सर्वप्रथम आचार्य श्री कालूगणी के दर्शन किये। आचार्य के तेजस्वी भव्य व्यक्तित्व, प्रदीप्त मुखमंडल की आभा से माँ-पुत्र बहुत प्रभावित हुए। माँ-पुत्र ने दीक्षा के लिए प्रार्थना की। आचार्य श्री ने नथमल के धैर्य और साहस को परखकर और संतुष्ट होकर दोनों को प्रतिक्रमण तथा दीक्षा की स्वीकृति दी। तेरा पंथ के अष्टमाचार्य कालूगणी संवत 1987 के मर्यादा महोत्सव सरदार शहर में नथमल और माता बालूजी को भंसालीजी के बाग में दीक्षा प्रदान की। अपने गुरू के सतत सान्निध्य छह वर्षो में मुनि नथमल को विशिष्ट रूप से निर्मित किया। नथमल दस वर्ष की अवस्था में ही दीक्षित हुए, कालूगणी ने उनको

विविध प्रकार से प्रशिक्षित किया। उन्हें स्नेह की भावना से प्यार किया। धातु कोष प्राकृत का आठवाँ अध्याय सिखाकर उन्हें स्नात होने के क्षण उपलब्ध कराये। 1989 में कालूगणी डूंगरगढ़ विराज रहे थे, बालमुनि नथमल उनकी उपासना में थे। मुनि नथमल दस वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए थे, आचार्य कालूगणी ने उन्हे सर्वागीण विकास के लिए मुनि तुलसी के पास रहने का निर्देश दिया। मुनि तुलसी उस समय मात्र 16 वर्ष के थे फिर भी अपना दायित्व निभाने में सफल हुए। उन्होंने थोड़े ही समय में उनको प्रत्येक दिशा में जागरूक बना दिया। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि समस्त क्रियाओं में पारंगत हो गये। आचार्य तुलसी के अनुशासन कौशल ने उनको अत्यधिक प्रभावित किया। आचार्य तुलसी और मुनि नथमल का एक दूसरे के प्रति विश्वास का अटूट सूत्र निर्मित हुआ। कुछ वर्षो तक वे शिक्षक और विद्यार्थी के रूप में साथ रहे। उभयपक्षीय पुरूषार्थ से उस कालखंड में अनेक निष्पतियाँ सामने आयी।

सन 1936 ई. में मुनि तुलसी तेरापंथ के आचार्य बन गये थे, और सोलह वर्षीय मुनि नथमलजी को शिष्य के रूप में पाकर वे धन्य हो गये। गुरू के वात्सल्य पूर्ण विश्वास और शिष्य के समर्पण ने विकास के अनेक नये क्षितिज खोले। एक समय आया जब मुनि नथमलजी आचार्य तुलसी की विचार यात्रा के भाष्यकार बने तथा स्वप्न यात्रा को सच में बदलने के लिए कटिबद्ध हो गये। सन 1998 ई. आचार्य श्री ने मुनि नथमल को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर संबंधों को एक नया आयाम दे निया। वे गुरू-शिष्य होते हुए भी आचार्य युवाचार्य के रूप में पहचाने जाने लगे सोलह वर्षो तक इस संबंध को पोषण देकर आचार्य श्री ने अपना आचार्यत्व

युवाचार्य में संप्रेषित कर दिया। दोनों के बीच में एक भेद रेखा थी, उसे मिटाकर वे अभिन्न बन गये। मुनि नथमल से आचार्य महाप्रज्ञ बन गये।

आचार्य श्री तुलसी के "अध्यात्म साधना केन्द्र" दिल्ली में, उन्होंने अपने साधु-साध्वियों के लिए विपश्यना का एक शिविर लगवाया। उन दिनों सत्यनारायण गोयन्का स्वयं शिविर का संचालन करते थे, सांयकाल एक घण्टा उनका साधकों के लिए प्रवचन होता था। इस शिविर में उनके अनेक मुनियों और साध्वियों के साथ आचार्य श्री के दाएं हाथ मुनिश्री नथमलजी स्वयं बैठे। उन्होंने आचार्य श्री तुलसी को शिविर की महत्ता की जो सूचना दी, उसके कारण वहीं एक शिविर और लगा। इसमें भी अनेक मुनियों और साध्वियों के साथ मुनि नथमलजी पुनः सम्मिलित हुए। इन दोनों शिविरों के चमत्कारी परिणाम देखकर आचार्य श्री तुलसी ने "माघ महोत्सव" पर आये हुए सभी तेरापंथी साधु-साध्वियों के लिए लाडनूँ के "जैन विश्व भारती" में दो शिविरों का आयोजन किया। इन दोनो में भी मुनि श्री नथमल जी के अतिरिक्त तेरापंथ के वरिष्ठ साधु-साध्वियों ने बड़ी संख्या में भाग लिया । इन चारों दस दिवसीय शिविर में भाग लेकर मुनिश्री नथमलजी ने सत्यनारायणजी की और विपश्यना साधना की भरपूर प्रशंसा की । कुछ समय बाद वे स्वयं "प्रेक्षाध्यान साधना" के नाम से शिविर लगाने लगे।

मुनि नथमल को रचनात्मक साहित्य लिखने की रूचि है, उन्होंने बहुत सी पुस्तकों की रचना की, जो बहुत लोकप्रिय हैं। उनकी भाषा में शिष्टता, सरलता है, वे आशु कवि हैं । वे संस्कृत भाषा में भी प्रवचन करते थे। जनसम्पर्क जैन मुनि की नियति बना हुआ है। भगवान महावीर

के मुख्य सिद्धान्त स्यादवाद पर उन्होंने प्राकृत भाषा में एक बार धारा प्रवाह प्रवचन दिया। चित्त और मन के विषय में उनके विचार हैं :-

"चित्त चेतन है, मन जड़ है, जो भाव संस्कार चित्त पर उभरते हैं मन उनकी अभिव्यक्ति कर देता है। उन्होंने धर्म और विज्ञान पर प्रभावी प्रस्तुति दी। वे उपासना, क्रियाकाण्ड प्रधान धर्म के बारे में कभी नहीं बोले। व्यक्ति समष्टि से पृथक नहीं है, अस्तित्वआस्ति समष्टि से जुड़ा हुआ है। समष्टि भी व्यक्ति से भिन्न नही है। व्यक्ति और समष्टि दोनों में अंतर संबंध है। वे कहते थे - अनुराग से विराग, इस सिद्धांत का प्रयोग इन्द्रिय शुद्धि की साधना से किया जा सकता है। वे स्वाध्याय करते करते ध्यान में चले जाते थे।

❊ ❊ ❊ ❊ ❊

कलियुग के अन्य महान पुरूष

आर्यावर्त में अनेक चक्रवर्ती सम्राट हुये जैसे शुद्धम्न, भूश्द्धिमन, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरीशचन्द्र अम्बरीष, ननक्कु शर्याति, यायाति, अरणय, अक्षसेन, मरूत, भरत तथा दशरथ। इनमें कुछ सम्राट सतयुग में किन्तु अधिकतर त्रेतायुग में हुये। इनमें कुछ सम्राटों की कथा पुराण आदि ग्रंथों में भी आती है। हमारे देश भारत में अनेक ऋषि मुनि हुए, इसलिए भारत को ऋषि मुनियों का देश कहा गया । हमारी संस्कृति में ऋषि मुनियों को सदा सम्मान दिया गया। वह इसलिए नही कि वे दैविक चमत्कारिक शक्तियों से सम्पन्न होते थे, अपितु इसलिए कि वे समाज कल्याण के उद्देश्य से सर्वस्व समर्पित कर सेवा के काम में जुटे रहते थे। यही कारण था, चक्रवर्ती सम्राट भी ऐसे ऋषियों के आगमन पर अपना सिंहासन छोड़कर उनका सत्कार करते थे। त्याग और सेवा के मूल्य ने भारतीय संस्कृति को विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

वर्तमान युग में भी जगत प्रसिद्ध सम्राट विक्रमादित्य, सम्राट हर्षवर्धन सात्विकता तथा प्रेरक व्यक्तित्व के धनी सम्राट अशोक, चक्रवर्ती सम्राट चन्द्रगुप्त हुए और अनेक महान विभूति अवतरित हुए, अनेक महापुरूष हुए जिनके कारण देश-विदेश में सर्वत्र भारत का गौरव और यश फैला। भारत सोने की चिड़िया कहलाया, भारत विश्व गुरू की उपाधि से गौरवान्वित हुआ। साथ ही साथ इस युग में ही मुहम्मद गौरी, चंगेजखान, इटली के तानाशाह मुसोलिनी, जर्मनी के एडोल्फ हिटलर आदि हुए, प्राचीन युगों में ऐसे लोगों को ही दानव, राक्षस कहकर पुकारा जाता था।

आज का भारत वही देश है, जिसके मस्तक पर कभी वेदांत का अभिषेक था। जिसे कभी विश्व अपना धर्म गुरू मानता था, जहाँ के विद्वान सदैव सत्य की खोज में लगे रहते थे। सम्यक सत्य को जानकर उसका स्वयं लाभ लेते और विश्व को देने के लिए कष्टों को सहते हुए दूर-दूर की यात्रा करते थे। इतना उत्थान और पतन के बावजूद भी यही एक देश है, जहाँ सच्ची आध्यात्मिकता की लौ कभी नही बुझी। वैदिक काल से लेकर आज तक बराबर आध्यात्मिक चिंतन, आध्यात्मिक साधना की अग्नि जलती रही। जब-जब भी यह अग्नि जरा ठंडी पड़ती, तब-तब इस ध्यान यज्ञ में घृत और हवा देकर उसको प्रज्जवलित करने के लिए महान पुरूषों का जन्म बराबर होता रहा।

इसी देश में श्री शिवशंकर, भगवान कृष्ण, गौतमबुद्ध हुए जो ध्यान योग के शीर्ष आचार्य थे। भगवान गौतमबुद्ध को "योगियों में चक्रवर्ती" कहा गया। वे महान कारूणिक थे, परम अहिंसावादी थे, उन्होंने वैदिक
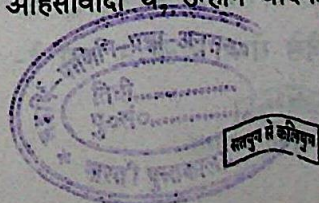
यज्ञों में हो रही हिंसा को बन्द करवाया था। समाज में मानव निर्मित ऊँच नीच के भेद भाव को दूर करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने की ध्यान साधना की और 45 वर्ष तक पैदल यात्रा करते हुए हर क्षेत्र में इसका ज्ञान वितरण किया था और सम्यक धर्म की स्थापना की थी। भगवान गौतम बुद्ध भगवान महावीर के खिलाफ भी रूढ़िग्रस्त पण्डे पुजारी महन्तों द्वारा उन्हे दंभी, लंपट, अधर्मी कहकर कितने दोष गढ़े गये। इसी तरह मसीहा को सूली और सुकरात को जहर दिया गया।

प्राचीन भारत की यह विशेषता रही है कि उसने स्वतंत्र एवं दार्शनिक विचारों में अत्यन्त उदारता बरती इसलिए यहाँ दार्शनिक क्षेत्र में इतनी बड़ी प्रगति हो सकी और भारत जगतगुरू बन सका। महर्षि महेश योगी, ओशो, रजनीश, भक्त वेदान्त स्वामी प्रभुपाद और विशेष करके कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण गोयन्का । आज उनके सारे विश्व में लाखों शिष्य है, भारत एवं विश्व में सौ से अधिक आश्रम है, जहाँ 10 दिवसीय, 20-30 एवं 60 दिवसीय भी ध्यान शिविर लगते हैं। भक्ति वेदान्त प्रभुपाद ने कृष्ण भक्ति का सारे विश्व में प्रचार किया कितने ही मंदिरों का निर्माण हुआ और उनके भक्त शिष्य कृष्ण भक्ति में झूम झूम कर कीर्तन करते हैं, कृष्ण की प्रतिमा के सामने नाचते और भजन गाते हैं।

इस तरह आज भारत फिर आध्यात्मिक शिखर पर पहुँच कर अपनी पूर्व ख्याति प्राप्त कर रहा है। आध्यात्मिक पुनरूत्थान साफ-साफ दिख रहा है। विश्व के कई मूर्धन्य व्यक्तियों ने अपने विचार विश्व को दिये हैं। जैसे रोम्यां रोलॉ ने कहा है-

"मुझे विश्वास है कि भारतवर्ष एक बार फिर सारे विश्व को ज्ञान का प्रकाश देगा।"

प्रो.कीरो ने कहा -

"एक नई सभ्यता का उदय होने जा रहा है जो चिरकाल तक धरती के लोगों को देश, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय से ऊपर आत्मा के मानवीय सिद्धान्तों पर आबद्ध रखेगी।"

※ ※ ※ ※ ※

अध्यात्मनिष्ठ साहित्य - मर्मज्ञ

श्री बालकृष्ण गोयन्का

का प्रकाशित साहित्य

१. योगेश्वर श्रीकृष्ण (प्र. स. १९९५/परिवर्धित सं. १९९८)

२. धर्म-गंगा में बहने सुमन (१९९७)

३. योगेश्वर श्री शिवशंकर (२००१)

४. कल्याणमित्र सत्यनारायण गोयन्का (२००२)
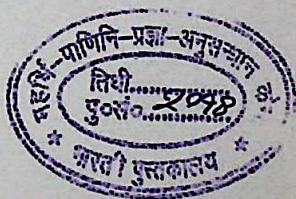
प्रतिष्ठान :

फुड्स, फैट्स एंड फर्टिलाइज़र्स लि.

फाउंटेन प्लाज़ा, सातवीं मंज़िल,

पैंथियन रोड, एगमोर

चेन्नई-६०० ००८

चतुर्युग स...
सतयुग से कलियुग
बालकृष्ण गोयन्का